5.2

आनन्दवर्धन कृत

ध्वन्यालोक

प्रथम उद्योत

दीपशिखा टीका सहित

आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

(दीपशिखा टीका सहित)
आनन्दवर्धन कृत

ध्वन्यालोक

प्रथम उद्योत

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया........................ (ध्वनिकार)

टीकाकार
आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, डी. लिट्.
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९८० ई०

DHVANYALOKA

First Chapter

Ed. by.

Prof. Chandika Prasada Shukla, D. Litt.

with DEEPSHIKHA

Commentary

1980

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक

भोला यंत्रालय, खजुरी, वाराणसी

आमुख

अथ कोऽयं ध्वनिर्नाम ?

संस्कृत काव्य-शास्त्र में आनन्दवर्धन को ध्वनिसम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। ध्वनिविषयक सारी विप्रतिपत्तियों का निराकरण कर उन्होंने इस का असन्दिग्ध स्वरूप 'सहृदयमनःप्रीतये' निरूपित किया। उनके अनुसार ध्वनि एक विशेष प्रकार का काव्य है, जिसमें उसके वाचक शब्द अपने वाच्य अर्थ को तथा वाच्य अर्थ स्वयं अपने को गौण या अप्रधान कर प्रतीयमान अथवा व्यङ्ग्य अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करते हैं :—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः॥ (ध्व० १/१३)

दूसरे शब्दों में—व्यङ्ग्य अर्थ का प्रधान रूप से व्यञ्जक काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है।

वस्तुतः इस लक्षण के द्वारा आनन्दवर्धन ने एक विशेष प्रकार के काव्य से सहृदय-जगत् का परिचय कराया और उसका नाम बताया 'ध्वनि'। अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ में ध्वनिकार ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग केवल एक इसी (काव्यप्रकारविशेष) अर्थ में किया है। उदाहरणार्थ—

(१) 'व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः' (२) 'ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तम्' (३) 'ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम्' (४) 'व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्य-प्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्' (५) 'व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता' (६) 'तदयमत्र संग्रहः—यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते। संवृत्त्याभिहितौ वस्तु यत्रालङ्कार एव वा। काव्यध्वनिर्ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः। सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः। (७) 'ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्। न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः।' इत्यादि।

ध्वनिसम्प्रदाय के सम्मान्य अनुयायी एवं वरिष्ठ व्याख्याता आचार्य मम्मट ने भी अपने समस्त 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल इसी (काव्यप्रकारविशेष) अर्थ में किया है। उन्हीं के शब्दों में—'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः' तथा 'सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्' इत्यादि।

आनन्दवर्धन ने इस प्रकार के व्यङ्ग्यप्रधान काव्य को ध्वनि नाम देने का प्रामाणिक आधार भी बताया है—"वैयाकरणों ने सुनाई पड़ने वाले स्फोट-व्यञ्जक वर्णों को 'ध्वनि' कहा है, तो उन्हीं के अनुयायी काव्य-तत्त्वार्थवेदी अन्य मनीषियों ने शब्दार्थ-युगलमिश्रित शब्दस्वभाव वाले काव्य को भी (व्यञ्जकत्व-सादृश्य के कारण) ध्वनि नाम दिया।" "ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।" (ध्व०) आचार्य मम्मट ने इन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि अपने काव्यप्रकाश में इस प्रकार की है—

"बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य (का० प्र०)।"

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ हुआ—ध्वनति इति-अर्थात् व्यञ्जक और प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ हुआ—'व्यङ्ग्य अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करने वाला व्यञ्जक काव्यविशेष।'

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आनन्दवर्धन ने ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल एक विशेष प्रकार के काव्य के ही अर्थ में किया है तो ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ही उल्लिखित 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ? क्यों कि काव्यप्रकारविशेष को काव्य की आत्मा कहना संगत नहीं समझ पड़ता। और फिर आगे आने वाली दूसरी ही कारिका में काव्यात्मा को सहृदयश्लाघ्य अर्थरूप से व्यवस्थित बताया गया है। अतः 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' में भी 'ध्वनि' शब्द का अर्थ व्यङ्ग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ ही होना चाहिए, जिसको आगे 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' आदि द्वारा और अधिक स्पष्टरूप में कहा जायगा ?

इसका समाधान इस रूप में समझना चाहिए कि प्रथम कारिका में उल्लिखित 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' यह मत आनन्दवर्धन के भी पूर्व बुधों अर्थात् काव्यतत्त्वविद् सहृदयों में प्रचलित था, जिसका अर्थ है कि ध्वनि अर्थात् काव्यविशेष ही काव्य अर्थात् काव्यसामान्य का वास्तविक आत्मा अथवा श्रेष्ठ अंश है। इसको अधिक स्पष्ट स्वयं ध्वनिकार ने ग्रन्थ के अन्त में किया है कि—"जैसे विबुधोद्यान में कल्पवृक्ष उस उद्यान का प्राण अथवा आत्मा होता है—(यद्यपि कल्पवृक्ष भी वृक्षों के समूहरूप उस उद्यान में एक वृक्षमात्र ही है।)—वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए—

काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः।
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

ध्व० ४।

इस सादृश्यकथन का तात्पर्य यह है 'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयरूप अथवा विविध वाच्यवाचक-रचनाप्रपञ्चचारुरूप काव्यसामान्य के गद्य, पद्य, चम्पू, दृश्य, श्रव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, रूपक, उपरूपक, मुक्तक, संस्कृत, प्राकृत आदि जो भी प्रकार हैं, उन सबमें आत्मा अथवा श्रेष्ठ अंश ध्वनिरूप रचना होती है, जिसके अविवक्षित वाच्य-विवक्षितान्यपरवाच्यगत वर्ण-पद-पदांश-वाक्य-प्रबन्धादिरूप से अनन्त प्रकार बताये गये हैं। उदाहरणार्थ यहाँ 'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें 'अधम' यह पदध्वनिरूप काव्यविशेष सम्पूर्ण श्लोकरूप काव्यसामान्य का श्रेष्ठ अंश या आत्म-स्वरूप है। इसी प्रकार अन्य भेद भी काव्य में स्थित होकर उस पूरे काव्यप्रकार को सजीव कर देते हैं। अतः काव्यसामान्य का वह काव्यविशेष आत्मा है, इस कथन अथवा मान्यता में कोई दोष नहीं।

[अथवा आत्मा का अर्थ कोष के अनुसार स्वभाव, प्रकार या स्वरूप भी होता है। अतः 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का अर्थ हुआ—'काव्य का स्वभाव, प्रकार या स्वरूप ध्वनि ही होता है।' अर्थात् ध्वनि ही काव्यस्वरूप है। जो ध्वनि नहीं है वह काव्य ही नहीं है। आनन्दवर्धन ने अपनी इस मान्यता की विस्तार के साथ सभी दृष्टियों से मीमांसा कर व्यङ्ग्य अर्थ को प्रधान तथा गौण रूप से दो प्रकार की स्थितियों के अनुसार काव्य के दो प्रकार निरूपित किये—व्यङ्ग्य अर्थ के प्रधान रहने पर 'ध्वनि' प्रकार और गौण रहने पर 'गुणीभूतव्यङ्ग्य प्रकार'। इन दो के अतिरिक्त को, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ संस्पर्श नहीं है, उन्होंने वस्तुतः काव्य ही नहीं माना है। उसे उन्होंने काव्यानुकृति अथवा काव्यचित्रमात्र कहकर अलग कर दिया—जैसा कि वे स्वयं कहते हैं :—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥ (ध्वनि० ३)।

और यह 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' भी साक्षात् अथवा प्रथम व्यङ्ग्य अर्थ की गौणता की दृष्टि से किया गया एक प्रकार है, अन्यथा पर्यवसायी रसभावादि की दृष्टि से तो यह गुणीभूतव्यङ्ग्य भी 'ध्वनि' ही कहलाएगा—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥
गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो,
रसभावादितात्पर्यपर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते। (ध्व० ३/४)।

इसीलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य को ध्वनि का निष्यन्दरूप कहा है, अर्थात् उसके भी मूल में ध्वनि की ही सत्ता है—

"तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः। (ध्व० ३)

अतएव पण्डितराज जगन्नाथ ने भी गुणीभूतव्यङ्ग्य को 'उत्तम' नाम देकर उसमें विद्यमान ध्वनि की सत्ता की ओर संकेत किया है—

"यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्। वाच्यापेक्षया प्रधानीभूतव्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूतव्यङ्ग्यम्……तेन तस्य ध्वनित्वमेव।" (र० गं० १)।

तो इस प्रकार काव्य का वस्तुतः एक ही स्वरूप या प्रकार है—'ध्वनि'। यही उस प्रथम वाक्य का अन्वित अथवा तात्पर्यरूप अर्थ भी होगा—"काव्यस्य आत्मा (स्वरूपं स्वभावोवा) ध्वनिः"।

आनन्दवर्धन काव्य का कोई ऐसा प्रकार सोच भी नहीं सकते जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के संस्पर्श के बिना भी कोई चमत्कार या रमणीयता हो—

सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्। (ध्व०)

पर्यवसायी रस की दृष्टि से काव्यस्थिति का विवेचन करते हुए ध्वनिकार ने अति स्पष्ट शब्दों में अपने निष्कर्ष को बता भी दिया है—"इस दृष्टि से सभी प्रकार के काव्य ध्वनिलक्षण से बाहर नहीं जाते। कवि के रसादि की अपेक्षा से गुणीभूत व्यङ्ग्य लक्षण भी काव्यप्रकार ध्वनिरूप बन जाता है इसे पहले बता चुके हैं। जब नृपदेवादिस्तुतियों में रसादि व्यङ्ग्य (उन देवादिरतिभाव के) अङ्ग रूप से व्यवस्थित होते हैं, अथवा हृदयवतीनामक प्राकृत कवि-गोष्ठियों में प्रसिद्ध गाथाओं में व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य में प्राधान्य होता है, तो वहाँ भी उस गुणीभूतव्यङ्ग्य में ध्वनि की निष्यन्दता (प्रवाहरूपता) रहती है—इसे पहले भी बता चुके हैं। तो इस प्रकार इदानींतन कवियों को काव्यमार्ग का उपदेश करते समय यह सिद्धान्त तय हुआ कि प्रथम अवस्थावाले अभ्यासार्थी चाहें तो भले चित्रकाव्य की रचना का व्यवहार करें, किन्तु परिपक्वता प्राप्त किये हुए सिद्धहस्त कवियों का तो केवल ध्वनि ही काव्य (रचना) है।"

"स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बत इत्युक्तं प्राक्।……………तदेवमिदानींतनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्।"

(ध्व० ३)

आनन्दवर्धन का वास्तविक ध्वनि-स्वरूप-विवेचन प्रथम उद्योत की तेरहवीं कारिका में ही होता है, और उस उद्योत की दूसरी से बारहवीं कारिका तक का भाग उनके वक्ष्यमाण ध्वनिलक्षण की भूमिका मात्र है, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। (ध्व० १।२)

ध्वनिविषयक अनेक विसंवादों तथा भ्रान्तियों का कारण केवल इस कारिका का यथार्थ बोध न होना ही है। यहाँ आनन्दवर्धन एक सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकृत मत को लेकर अपना विवेचन प्रारम्भ करते हैं। उनके ध्वनिकाव्य अथवा ध्वनिवाद का प्राण प्रतीयमान अथवा व्यङ्ग्य अर्थ है। यदि उस व्यङ्ग्य अर्थ की वाच्यादि से पृथक् सत्ता उन्होंने सिद्ध कर दी तो ध्वनिवाद स्वतः सुप्रतिष्ठित हो जायगा। किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ जहाँ भी होगा वहाँ उसका व्यञ्जक वाच्य अर्थ अवश्य रहेगा, जो उस व्यङ्ग्य के सम्पर्क से स्वयं भी रमणीय हो जाता है। अतः काव्य में सहृदय जन जिस अर्थ की प्रशंसा करते हैं, जिसे काव्य की आत्मा अथवा प्राण कहते हैं, उसके दो भाग होते हैं—एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। ध्वनिनामक काव्यविशेष में आत्मा या श्रेष्ठ अंश प्रतीयमान ही रहता है, किन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यविशेष में तो प्रायः वाच्य अर्थ ही श्रेष्ठ रहता है—व्यङ्ग्य उससे अवर माना जाता है। व्यङ्ग्य से युक्त होने पर वाच्य रमणीय तो हो ही जाता है। उसमें जब व्यङ्ग्य प्रधान होता है तो ध्वनि, और जब वाच्य प्रधान होता है अथवा वह व्यङ्ग्य अप्रधान होता है तो गुणीभूत व्यङ्ग्य। अतः सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मरूप अर्थ के वाच्य-प्रतीयमान दो भाग मानने में कोई असंगति नहीं। प्रतीयमान अर्थ शब्द का साक्षात् अर्थ तो है नहीं वह वाच्यबोध के बाद ही बोधविषय बनता है—कभी असंलक्ष्यक्रमरूप से, कभी संलक्ष्यक्रमरूप से। अतः उसको व्यक्त करता हुआ वाच्य स्वयं भी उससे संपृक्त ज्ञानगोचर होता रहता है। उसीके आधार पर व्यङ्ग्य स्थित होता है। दोनों का आधाराधेय सम्बन्ध है। अतः दोनों का बोध एक प्रसंग में शब्द से एक साथ क्रमशः होता है। और शब्द से मिलने वाले उस अर्थप्रतान के वाच्यभाग एवं व्यङ्ग्य भाग स्वतः पृथक् स्पष्ट प्रतीत होते हैं। किन्तु व्यङ्ग्यरहित वाच्य तो काव्य में कभी सहृदयश्लाघ्य हो ही नहीं सकता। अतः व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की इस द्वितीय कारिका में उल्लिखित वाच्यांश की काव्यात्मता पर आक्षेप करना उन दोनों के भ्रम का केवल विजृम्भण ही कहा जायगा। उन लोगों ने तो ध्वनि का अर्थ ही व्यङ्ग्य या प्रतीयमान अर्थ मान लिया है। अतः उनका तो भ्रम ही मौलिक है। अस्तु।

इस दूसरी कारिका में जिस काव्यात्मा का उल्लेख है उसका प्रथम कारिका में कथित 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' से कोई सम्बन्ध नहीं। वस्तुतः यहाँ प्रकरण ही दूसरा हो जाता है, यह है भूमिका-प्रकरण, जो दूसरी कारिका से बारहवीं कारिका तक जाता है जिसमें वे व्यङ्ग्य अर्थ का परिचय देते हैं, जो ध्वनिकाव्य की आत्मा है। यदि यही सहृदयश्लाघ्य अर्थ, जो यहाँ काव्यात्मा कहा जा रहा है, 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का ध्वनि भी है तो मानो दूसरी ही कारिका में उन्होंने ध्वनि की परिभाषा भी कर दी और उसके वाच्य, प्रतीयमान दो भेद भी बता दिये। अतः अब तेरहवीं कारिका में उसकी परिभाषा तथा उसके अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो भेद

करने भी व्यर्थ होंगे। वस्तुतस्तु दूसरी से बारहवीं कारिका तक का अंश तो केवल भूमिका मात्र है। उसका उपयोग आगे ध्वनि-स्वरूप-विवेचन में तेरहवीं में किया जाता है—जैसा कि तेरहवीं कारिका प्रारम्भ करने के पूर्व आनन्दवर्धन स्वयं कहते हैं—

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह इत्यादि। अतः दूसरी कारिका में एक दूसरा ही विषय है, जिसका प्रथम के उल्लेख से कोई सम्बन्ध नहीं।

वस्तुतः वह प्रतीयमान अंश ही, जो ललना में लावण्य की भाँति विराजमान होता है, काव्य की आत्मा है। उसी के स्पर्श या संगति से वाच्य में भी चारुता आ जाती है और वह भी काव्यात्मपद के योग्य बन जाता है। इस प्रकार प्रथम उद्योत की दूसरी से बारहवीं कारिका तक में बड़ी युक्ति के साथ व्यङ्ग्य अर्थ की वाच्य से पृथक् सत्ता एवं चारुता को सिद्ध करके आनन्दवर्धन उसका ध्वनि-लक्षण करने में उपयोग करते हैं। इस तेरहवीं कारिका के पूर्व कहीं भी उन्होंने ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यङ्ग्य अर्थ के लिए नहीं किया है। और इसके बाद, जबकि ध्वनि को एक काव्यप्रकारविशेष के रूप में लक्षित कर दिया तब तो ध्वनि काव्यविशेष बन ही गया—काव्यविशेष मान ही लिया गया। अब आगे तो उन्होंने व्यङ्ग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ को ही (उसके वस्तु, अलङ्कार तथा रसादि तीनों रूपों को) ध्वनि की आत्मा अथवा प्राणरूप से भूयोभूयः निर्दिष्ट भी किया—

(१) ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे; (२) मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा; (३) अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः। इत्यादि।

और साथ ही इस ध्वन्यात्मा अथवा काव्यात्मा व्यङ्ग्य का बोध करने के लिए व्यञ्जकत्व अथवा व्यञ्जना व्यापार की भी अनिवार्य सत्ता उन्हें बतानी पड़ी, जिसका विवेचन उन्होंने तृतीय उद्योत में किया है—'किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम' इत्यादि रूप से। (ध्वन्यालोक में कहीं भी व्यञ्जना शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। उसके लिए व्यञ्जकत्व शब्द ही प्रायः प्रयुक्त हुआ है।) अस्तु।

और फिर जब उन्होंने ध्वनि का केवल एक ही लक्षण दिया है तो जब-जब अपने ग्रन्थ में उसका प्रयोग करेंगे तब-तब उसका केवल वही एक अर्थ समझा जायगा। यदि उन्हें उसे किसी अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त करना अभीष्ट होता तो वे स्पष्टतः कह देते कि यह ध्वनि अमुक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, अन्यथा उनके लक्षण में अतिव्याप्तिनामक दोष माना जायगा। और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलता है कि आनन्दवर्धन की ओर से तो ध्वनि शब्द का प्रयोग सदा अत्यन्त निर्भ्रान्त रूप से केवल काव्यप्रकारविशेष के ही अर्थ में हुआ है। इसलिए वे भूयो भूयः उसका स्मरण भी दिलाते

गये हैं। प्रथम उद्योत में ही ध्वनि के अभाववादियों को मुंह तोड़ उत्तर देने के पश्चात् आनन्दवर्धन कहते हैं:—

तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः। अस्ति ध्वनिः। स चासावविवक्षित-वाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन। (ध्व० १)।

फिर एक स्थल पर तो उन्होंने व्यञ्जना व्यापार एवं व्यङ्ग्य अर्थ के साथ ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल काव्यप्रकारविशेष के लिए किया तथा साथ में उसके प्रसिद्ध दोनों भेदों का भी उल्लेख किया:—

"तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः। तस्य चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ।" (ध्व०)।

अतएव यह भी न सोचना चाहिए कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यञ्जना व्यापार के अर्थ में भी कहीं किया होगा। उन्होंने 'भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।' कारिका द्वारा दोनों का दो नितान्त पृथक् रूप निस्सन्दिग्ध एवं स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित भी कर दिया है। उनका कहना है कि 'पूर्वलक्षित ध्वनि और भक्ति अथवा लक्षणा का ऐक्य नहीं हो सकता, क्यों कि दोनों के स्वरूप नितान्त भिन्न हैं— "वाच्य से अतिरिक्त अर्थ को जहाँ वाच्य वाचक तात्पर्य रूप से प्रकाशित करते हों उस व्यङ्ग्यप्रधान को ध्वनि कहते हैं, और भक्ति तो केवल उपचार (अन्य अर्थ में अन्य अर्थ का आरोप) मात्र है—"अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।" (ध्व०)। वस्तुतः यदि कहीं ध्वनि शब्द का उल्लेख व्यापार अर्थ में हुआ भी है तो वह पूर्वपक्षी के मत का अनुवदन मात्र है। उसे ध्वनिकार का सिद्धान्तवचन न समझना चाहिए। वे तो उसका प्रत्याख्यान करने के लिए पूर्ण बद्धपरिकर ही बैठे हैं। एक बात यहाँ और स्पष्ट कर देनी है कि प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका में ध्वनिकार ने ध्वनिनामक काव्य के ही तीनों विरोधियों का उल्लेख किया है और पूरे प्रथम उद्योत में उन्हीं को मुंह तोड़ जवाब भी दिया है। यहाँ यह विरोध न तो व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति है, न व्यञ्जना व्यापार के। इनका प्रसङ्ग तो तीसरे उद्योत में आया है—"किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम" इत्यादिरूप से। वहाँ उन्होंने व्यङ्ग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ तथा व्यञ्जना व्यापार जिसके लिए उन्होंने व्यञ्जकत्व शब्द का प्रयोग किया है, दोनों की पूर्ण संरम्भ के साथ सिद्धि की है।

अतएव ध्वनि का सब प्रकार से विवेचन करने के पश्चात् आनन्दवर्धन पुनः कहते हैं—

विमतिविषयो य आसीन् मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥
(ध्व०)

और ग्रन्थान्त में काव्य में ध्वनि नामक प्रकार को नन्दन वन में कल्पवृक्ष के समान बताकर उसकी काव्यप्रकारता को और भी स्पष्ट कर दिया है—

काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः।
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥ (ध्व०)

किन्तु अन्त में यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही उठता है कि यदि ध्वनिकार ने ध्वनि शब्द का प्रयोग इतने निस्सन्दिग्ध रूप से काव्यप्रकारविशेष के ही अर्थ में किया है तो फिर ध्वनि शब्द का व्यङ्ग्य अर्थ एवं व्यञ्जना व्यापार में प्रयोग क्यों और कैसे चल पड़ा। इसके लिए हमें ध्वन्यालोक के कुछ समीक्षकों एवं टीकाकारों को देखना पड़ेगा। सर्वप्रथम ध्वनिविरोधी आचार्य भट्टनायक ने, जो काव्य में भोज्य-भोजक व्यापार की प्रधानता मानते हैं, अपने "हृदयदर्पण" में ध्वनि का अर्थ व्यञ्जना व्यापार माना। फिर ध्वन्यालोक की प्रसिद्ध टीका 'लोचन' के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्त ने बड़ी खींचतान कर ध्वनि के व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार आदि पाँच अर्थ किये, यद्यपि उन्होंने स्वयं यह तथ्य स्वीकार किया है कि ध्वनिकार की कारिका में तो ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल एक (काव्यप्रकार) ही अर्थ में हुआ है—'कारिकायान्तु प्राधान्येन समुदाय एवं काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् (ध्व० १/१३ पर लोचन)। उन्हें ध्वनि का इस प्रकार अनेक अर्थों में व्याख्यान करने के लिए वाक्यपदीय में भर्तृहरि द्वारा निरूपित ध्वनि का अनेक अर्थों में व्याख्यान करना पड़ा, जैसा कि उन्होंने प्रत्येक अर्थ के लिए प्रमाण रूप में वाक्यपदीय से कारिकाविशेष को उद्धृत कर बड़ी खींचतान के साथ अपनी व्याख्या का समर्थन किया है। इस प्रकार अधिकतया तो अभिनव के प्रमाण पर तथा मूलतः ध्वनिकार की प्रथम दो कारिकाओं में प्रयुक्त आत्मा शब्द का भ्रान्तिवश एक ही अर्थ समझ लेने पर महिमभट्ट—(केवलमत्रैवार्थस्योभयात्मनः सामान्येन यः काव्यात्मत्वेन व्यपदेशः सोऽनुपपन्नः। स हि प्रतीयमानार्थैकविषयो युक्तः, तस्यैव काव्यजीवितभूतस्य प्रधानतया ध्वनित्वेनेष्टत्वात्। यत् स एवाह—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' इत्यादि—व्य० वि० १), भोज (तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये—शृ० प्र०), हेमचन्द्र—(मुख्याद्व्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यङ्ग्यो ध्वनिः) इति काव्यानुशासन, विश्वनाथ (यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—अर्थः सहृदयश्लाघ्य········ उभौस्मृतौ। इति वाच्यात्मत्वं काव्यस्यात्मा ध्वनिः इति स्ववचनविरोधादपास्तम्"—सा० द० आदि) मान्य आचार्यों ने आँख मूँदकर ध्वनि का प्रयोग प्राधान्येन व्यङ्ग्य अर्थ के लिए ही प्रारम्भ कर दिया। और फलतः परवर्ती सहृदय-समाज में साधारण बोलचाल में भी ध्वनि शब्द ध्वनिकार के व्यञ्जक अर्थ में प्रयुक्त न होकर भ्रान्तिवश व्यङ्ग्य अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा।

बड़ी विडम्बना हुई। भ्रान्ति ही सिद्धान्त बन गई। अज्ञान ने ज्ञान का जामा पहिन लिया। उसी भ्रान्ति की नींव पर प्राचीन काल से आज तक साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी बड़े-बड़े प्रबन्ध-पिरामिडों का निर्माण हुआ और होता जा रहा है।

ध्वनि के विषय में मैंने अपने इन पूर्वोक्त विचारों को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग की पत्रिका 'सुरभारती' के 'सारस्वताङ्क' में १९६५ ई० में प्रथम बार प्रकाशित किया। तदनन्तर श्री गङ्गानाथ झा शोध-संस्थान से प्रकाशित होने वाली शोध-पत्रिका में १९६५ में ही इसका अंग्रेजी रूपान्तर भी प्रकाशित हुआ। साहित्यशास्त्र के अनेक मूर्धन्य चिन्तक विदग्ध मनीषियों ने साधुवाद दिया। मेरे मन में उत्साह आया। ज्ञान-प्रतिभा-गरिष्ठ पूज्यपाद विद्वद्वन्द्य प्रो० के. ए. एस. अय्यर भूतपूर्व कुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय का उत्साहवर्धक आशीर्वचन मिला। मैंने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक की संस्कृत टीका लिखने का संकल्प किया।

यद्यपि इसमें अनेक स्थलों पर 'लोचन', 'दीधिति' आदि टीकाओं के खण्डन का पर्याप्त अवसर आया, किन्तु मुझे पूज्यों के साथ व्यर्थ के विवाद में पड़ना उचित न समझ पड़ा। ध्वनिकार के मत का यथार्थ व्याख्यान हो जाने पर भ्रान्त अर्थों का अपाकरण स्वतः हो जायगा। सही-गलत की पहिचान विद्वान् पाठक स्वयं कर लेंगे।

अपनी संस्कृत व्याख्या का नाम मैंने दीपशिखा रक्खा है। मुझे इस नामकरण में भी स्वयं आनन्दवर्धन के इस वाक्य से प्रेरणा मिली—"आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः। तदुपायतया ......"। मैंने भी ध्वनि के आलोक के लिए इस 'दीपशिखा' को उपाय (साधन) रूप में प्रस्तुत किया है। और इसके हिन्दी-अनुवाद का नाम 'अनुस्वान' रक्खा है, जो प्रायः मूलग्रन्थ का अनुवाद-मात्र है, प्रारम्भ में कहीं-कहीं दीपशिखा का भी उसमें अनुवाद किया गया है। किन्तु विशिष्ट बातें 'दीपशिखा' ही में कही गई हैं।

इस टीका में मैंने स्वयं आनन्दवर्धन के ध्वनि को जिस रूप में समझा है प्रस्तुत किया है। इसमें मेरे गुरु एवं पथिप्रदर्शक स्वयं ध्वनिकार रहे हैं। अतः किसी को इससे कालुष्य होना उचित नहीं। बौद्धिक स्वातन्त्र्य मानव का जन्मसिद्ध पुण्य अधिकार है। गतानुगतिक होना अथवा बौद्धिक दासता मानव बुद्धि का सबसे बड़ा पतन है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि विदग्ध-सहृदय-समाज इसका स्वागत करेगा। अल्पज्ञ, मत्सरी खलों की खलबली की मुझे कोई परवाह भी नहीं। साहित्यदेवता के श्रीचरणों की अर्चना में 'नैषधानुवाद', 'नैषधपरिशीलन', 'मुक्ताफल' तथा 'शृङ्गारपरिशीलन' के अनन्तर मेरी यह 'दीपशिखा' श्रद्धामयी नीराजना है।

विश्वविद्यालय प्रकाशन-वाराणसी के प्रिय आदरणीय श्रीपुरुषोत्तमदास जी मोदी को इसके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

प्रयाग
३०-५-८०

सदाश्रव
चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

श्रीः

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

'दीपशिखया' विभूषितोऽनुस्वानाख्य-

हिन्दीभाषानुवादसमुदितश्च

प्रथम उद्योतः

श्रीनृहरयेनमः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः॥

श्रीगणेशाय नमः

विश्वेश्वरात्मजं देवं सुमुखं पार्वतीभवम्।
गुरुं भानुप्रतापं च प्रणम्यादावयावहम्॥१॥
यदुपज्ञमिदं शास्त्रं ध्वन्याख्यं काव्यदर्शनम्।
आनन्दवर्धनं ध्यात्वा ज्ञानाब्धिं तं सतां गुरुम्॥२॥
आचार्य शेखरं नत्वा मिट्ठूलालं गुरुं च तम्।
तत्पदाम्भोजसम्पर्कात् साहित्यं मे सुवासितम्॥३॥
प्रबन्धा ध्वनिमाश्रित्य येऽप्यद्यावधि निर्मिताः।
तेषां पन्थानमुल्लङ्घ्य तथ्यमार्गानुसारिणी॥४॥
ध्वन्यालोकस्य टीकेयं नवा दीपशिखाभिधा।
क्रियते विदुषां प्रीत्यै काव्यतत्त्वविदां मया॥५॥

दीपशिखा—अथ प्रारीप्सितप्रबन्धनिष्प्रत्यूहपरिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारपरम्परामनुसरंस्तत्रभवानानन्दवर्धनाचार्यस्स्वयमधिगतसकलपुरुषार्थकृतार्थ आशीर्वादात्मकं मङ्गलं ग्रन्थादौ व्याख्यातृश्रोतृणां क्षेमाय निबध्नाति स्वेच्छेति—स्वेच्छया स्वस्येच्छया सर्वथा स्वतन्त्रसमीहया यदृच्छया वा, न तु पूर्वकृतकर्मवशाद् न वा परशापादिवशात् केसरिणः सिंहस्य धृतनृसिंहरूपस्येत्यर्थः, मधुरिपोर्मधुनामदैत्यारेर्विष्णोः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः—स्वच्छया निर्मलया स्वच्छायया स्वकान्त्याऽऽयासितः क्लेशितः खिन्नोऽतएव कान्तिहीनः कृत इन्दुश्चन्द्रमा यैस्ते तादृशाः, प्रपन्नार्तिच्छिदः—प्रपन्नानां शरणमागतानां प्रह्लादप्रभृतीनाम् अर्ति दुस्सहां पीडां छिन्दन्ति विनाशयन्ति ते तथाभूताः भक्तपीडापहारिण

इत्यर्थः, नखाः, वो युष्मान् वक्ष्यमाणैतद्ग्रन्थाध्येतॄनित्यर्थः, त्रायन्तां रक्षन्तु—अस्य वक्ष्यमाणस्य ध्वनिग्रन्थस्याध्ययने समस्तविघ्नापसारणादिना साहाय्यमाचरन्त्वित्यर्थः ।

अनुस्वान—अपनी इच्छा से सिंहरूप धारण किये हुए मधुरिपु (नृसिंहावतार विष्णु) के नख, जो अपनी निर्मल छाया (कान्ति) से चन्द्रमा को खिन्न करने वाले हैं, तथा शरणागतों की आर्ति (पीड़ा) को काटने वाले हैं, आप लोगों की रक्षा करें ।

(ध्व०)—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

दी० शि०—अथानुबन्धनिरूपणप्रसङ्गेन वक्ष्यमाणैतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यविषयभूतस्य ध्वनेरवश्यनिरूपणीयतां प्रथमकारिकया प्रस्तौति-काव्यस्येति—ध्वनिरितिप्रसिद्धो यः काव्यविशेषः काव्यस्य काव्यसामान्यस्य आत्मा साररूपः काव्ये यावान् एव व्यञ्जकशब्दार्थरूपो ध्वन्याख्योंऽशस्तावानेव तत्र सर्वश्रेष्ठ इत्यर्थः (अथवा—काव्यस्यात्मेति काव्यस्य स्वभावरूप इत्यर्थः—आत्मशब्दोऽयं स्वभाववाची—'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म चेत्यमरकोषात्—सहृदयैर्ध्वनेरेव काव्यरूपेण स्वीकृतत्वात्-तदितरस्य च चित्रत्वेन बहिष्कृतत्वात्) बुधैः काव्यमर्मज्ञैः, समाम्नातपूर्वः-पूर्वं समाम्नातः परम्पराक्रमेण निरूपितः; अपरे बुधाः तस्य ध्वनेरभावम् असत्तामेव जगदुरूचुः क्वचित् स्वग्रन्थेषु ध्वनेरुल्लेखमपि न चक्रुरित्यर्थः । अन्ये बुधास्तं ध्वनिं भाक्तं भक्तेर्लक्षणाया इमम् इति लक्षणासम्बद्धमित्यर्थः, अथवा भक्तिरेव भाक्तस्तम्-स्वार्थेऽण्प्रत्ययः—लक्षणावृत्तिरूपमित्यर्थः, आहुः प्रतिपादयन्ति; केचिद् बुधाश्च तदीयं ध्वनिसम्बद्धं तत्त्वं वैशिष्ट्यं वाचाम् अविषये स्थितम् अनिर्वचनीयमित्यर्थः ऊचुः तेन हेतुना सहृदयमनःप्रीतये काव्यानुरागिजनमनस्तोषाय तत्स्वरूपं तस्य ध्वनेः स्वरूपं ब्रूमो निरूपयामः ।

अनु०—जो ध्वानिनामक व्यञ्जकशब्दार्थरूप काव्यविशेष काव्यसामान्य का आत्मा अर्थात् श्रेष्ठ अंशरूप (अथवा स्वभावरूप) काव्यमर्मज्ञ बुधों द्वारा परम्परा से निरूपित किया गया है, अन्य बुधों ने उसकी सत्ता का ही अभाव कहा, कुछ अन्य (बुध) उस ध्वनि को भक्ति या लक्षणा से सम्बद्ध (अथवा लक्षणावृत्तिरूप ही) कहते हैं, तथा कुछ अन्य बुधों ने तो उस ध्वनि के वैशिष्ट्य को अनिर्वचनीय ही कहा है—अतः काव्यानुरागीजनों के मनस्तोष के लिए हम उस ध्वनि का स्वरूप निरूपित करते हैं ।

(ध्व०) बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः । तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति ।

दी० शि०—बुधैर्बहुभिः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यमर्मज्ञैः काव्यविवेचनप्रसङ्गेऽत्र बुधशब्दस्यायमेवार्थः समीचीनः काव्यस्य य आत्मा सारभागः (अथवा स्वभावः प्रकार इत्यर्थः—यथाह प्रसङ्गान्तरे स्वलोचनेऽभिनवोऽपि—'आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह'—ध्व० २।२) ध्वनिरिति संज्ञितोध्वनिनामभाक् परम्परयाऽविच्छिन्नधारया सामाम्नातः सम्यग् उचितं शास्त्रकल्पनयाऽऽम्नातः आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितो निरूप्य प्रदर्शितः, सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्यापि सहृदयजनानां मनसि प्रकाशमानस्य सुविज्ञायमानस्यानुभूयमानस्यापि (एतेन सहृदया ध्वनिस्वरूपविषये निर्भ्रान्ता इति द्योत्यते) तस्य ध्वनेरन्येऽसहृदया अयुक्ताभिधायिन इति यावत् अभावं सत्ताराहित्यं जगदुर्बभाषिरे ध्वनेर्नामस्वरूपादीनामुल्लेखमेव क्वचिदपि स्वग्रन्थेषु न कृतवन्त इत्यर्थः ध्वनेरसत्तां स्वीकुर्वतां तेषाम् अमी एते वक्ष्यमाणा विकल्पा विरुद्धास्तर्का अभावस्वीकरणसमर्थने हेतव इत्यर्थः सम्भवन्ति स्वकृतध्वनिनिरूपणाभावं त एवं समर्थयेरन्नित्यर्थः ।

अनु०—बुधों अर्थात् बहुत से काव्यमर्मज्ञों ने काव्य के जिस ध्वनि नामवाले आत्मा अर्थात् सारभाग (अथवा स्वभाव या प्रकार) को परम्परा से सम्यक् शास्त्रकल्पनापूर्वक व्याख्यात किया है, सहृदयजन-मानस में प्रकाशमान भी उस ध्वनि का अन्य अर्थात् सहृदयेतर लोगों ने अभाव कहा। उन अभाववादियों के ये विकल्प (अर्थात् अपने अभाववाद के समर्थन में विरुद्ध तर्क) सम्भव हैं।

(ध्व०)—तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

दी० शि०—तत्र तेषु केचित् प्रथमेऽभाववादिन इत्यर्थः, एवम् (जगदुरित्यत्र परोक्षभूतं लिटं संभावनालिङा व्याख्याति) आचक्षीरन् ब्रूयुः— शब्दार्थशरीरं शब्दश्च अर्थश्चेत्युभौ शरीरं यस्य तत् तथाविधं तावद् निर्विवादं काव्यं भवतीतिशेषः-काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरमिति मते तु न कस्यापि विप्रतिपत्तिरित्यर्थः—'तावत्' पदमत्र न कस्यापि विप्रतिपत्तिरिति द्योतयति। तत्र तयोः काव्यशरीरभूतयोः शब्दार्थयोः शब्दगता ये चारुत्वहेतवः काव्यशरीरभूतेषु शब्देषु ये चारुताकारिण इत्यर्थः, ते धर्मा अनुप्रासादयः शब्दालङ्कारा इति प्रसिद्धाः सुविदिता एव। एवम् अर्थगताश्च चारुत्वहेतवः काव्यशरीरभूतेष्वर्थेषु ये चारुत्वापादका धर्मास्तेऽपि उपमादयोऽर्थालङ्कारा इति प्रसिद्धा एवेत्यर्थः। वर्णसंघटनाधर्माश्च काव्यगतवर्णविशिष्टविन्यासरूपा ये माधुर्यादयो गुणास्तेऽपि प्रतीयन्ते सर्वैः सुविज्ञायन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयस्तेभ्योऽलङ्कारेभ्यः (अनुप्रासालङ्कारेभ्य इति यावत्) अनतिरिक्ताऽपृथग्भूता वृत्तिर्व्यापारो यासां ताः या उपनागरिकाद्याः—उपनागरिका-नागरिका-ग्राम्येति—तिस्रो वृत्तयः कैश्चिद् उद्भटादिभिः

प्रकाशिताः, ता अपि श्रवणगोचरं गताः श्रुताः। (तेभ्यो गुणेभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो) वैदर्भीप्रभृतयो वैदर्भी-गौडी-पाञ्चालीति प्रसिद्धास्तिस्रो रीतयश्चापि (याः कैश्चिद् वामनादिभिः प्रकाशितास्ता अपि गताः श्रवणगोचरमिति शेषः)। तद्व्यतिरिक्तःतेभ्यो गुणालङ्कारादिभ्यो व्यतिरिक्तो भिन्नः कोऽयं ध्वनिरिति नाम ? न कोऽपि स्यादित्यर्थः।

अनु०—उनमें कोई (अर्थात् प्रथम अभाववादी इस प्रकार) कह सकते हैं—'शब्द और अर्थ तो काव्य के शरीर हैं। उनमें (काव्यशरीरभूत) शब्द में चारुता उत्पन्न करने के हेतुरूप जो धर्म हैं, वे अनुप्रासादि शब्दालङ्कार सुविदित ही हैं। (इसी प्रकार काव्यशरीरभूत) अर्थों में (चारुता उत्पन्न करनेवाले हेतुरूप जो धर्म हैं वे) उपमादि अर्थालङ्कार (सुविदित ही हैं)। और जो काव्यगत वर्णों अथवा शब्दों की संघटना के धर्म अथवा वैशिष्टच माधुर्यादि गुण हैं, वे भी सभी को सुविज्ञात हैं। और उन (अनुप्रासादि) अलङ्कारों से अपृथक् व्यापारवाली जो उपनागरिका, नागरिका तथा ग्राम्या वृत्तियाँ (उद्भटादि) कुछ आचार्यों द्वारा प्रकाशित की गयीं, वे भी सुनने को मिली हैं। (तथा उन गुणों से अपृथक् व्यापारवाली) वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली नाम से प्रसिद्ध रीतियाँ भी (सुनने को मिली हैं)। तो उन पूर्वोक्त गुणालङ्कारादि से व्यतिरिक्त यह ध्वनिनामक (काव्य में) क्या वस्तु है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

(ध्व०)—अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

दी० शि०—अन्ये द्वितीया अभाववादिनो (ऽसहृदयाः) ब्रूयुः एवं तर्कयेयुः—नास्त्येव ध्वनिः ध्वनेः सत्तैव न विद्यते—एवकारेण स्वमतं द्रढिम्ना प्रतिपादयति (यतः) प्रसिद्धात् प्रस्थानात् प्रतिष्ठन्ते गच्छन्त्यनेनेति प्रस्थानं मार्गस्तस्माद् गुणालङ्कारादिरूपात्प्राचीनमार्गादित्यर्थः, व्यतिरेकिणः पृथग्गामिनः केवलव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वानुसारिणः काव्यप्रकारस्य त्वत्प्रतिपादयिषितध्वनिनामकाव्यभेदस्य काव्यत्वहानेः काव्यत्वमेव न स्यादित्यर्थः। यतः सहृदयहृदयाह्लादिनौ यौ शब्दार्थौ तन्मयत्वं तद्रूपत्वमेव काव्यलक्षणं काव्यत्वं भवतीत्यर्थः। उक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य पूर्वप्रतिपादितगुणालङ्कारादिपरिष्कृतशब्दार्थमयत्वप्रकारभिन्नस्य भवदभिमतव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावव्यवस्थितस्य ध्वनिनामकाव्यप्रकारस्य तत् काव्यलक्षणं न सम्भवति न समन्वेति, तत्र सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वाभावात्। अन्यच्च तस्य भवत्कल्पितस्य ध्वनेर्यः समयः सिद्धान्तः तदन्तःपातिनः तत्समर्थयितॄन् कांश्चित् स्वल्पसंख्याकान् पुरुषान् सहृदयानिति स्वतोऽभिनवविरुदधारिणः परिकल्प्य विधाय तत्प्रसिद्धया तेषां मध्ये सुविदितत्वेनापि अस्मिन्

ध्वनी काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि काव्यनाम प्रचारितमपि सकलविदुषां मनोग्राहितां हृदयङ्गमत्वं स्वीकृतिमित्यर्थः नावलम्बते न प्राप्नोति।

अनु०—दूसरे अभाववादी (असहृदय) इस प्रकार तर्क दे सकते हैं कि—ध्वनि की सत्ता ही नहीं सम्भव है, क्योंकि गुणालङ्कारादिरूप प्रसिद्ध प्राचीन मार्ग से पृथक् चलने वाले, अर्थात् केवल व्यङ्ग्य-व्यञ्जकत्व का अनुसरण करने वाले इस आप द्वारा प्रतिपादयिषित ध्वनि नामक काव्य-प्रकार को काव्यत्व ही नहीं हो सकता। सहृदय-हृदयाह्लादक जो शब्द और अर्थ तद्रूपता ही काव्य का लक्षण होता है। और पूर्व-प्रतिपादित गुणालङ्कार से परिष्कृत शब्दार्थमयत्व प्रकार से पृथक् केवल व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव पर व्यवस्थित आपके अभीष्ट ध्वनिनामक इस काव्यप्रकार को वह काव्यलक्षण घटित नहीं होता है (क्योंकि उसमें सहृदयाह्लादी शब्दार्थमयता नहीं है।) और फिर, उस भवत्कल्पित ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थक 'सहृदय' इस नूतन विरुदवाले कुछ पुरुषों को कल्पित करके उनके बीच प्रसिद्धि पाने पर भी, इस ध्वनि को दिया गया काव्यनाम सभी विद्वानों को हृदयङ्गम अथवा स्वीकृत नहीं हो सकता।

(ध्व०)—पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात्सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित्काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

दी० शि०—पुनरपरे तृतीया अभाववादिनस्तस्य ध्वनेरभावम् अन्यथा प्रकारान्तरेण कथयेयुः प्रतिपादयेयुः—'ध्वनिर्नाम अपूर्वः सर्वथानूतनः पूर्वप्रसिद्धगुणालङ्कारादिभ्यो विलक्षणः कश्चित् (काव्यप्रकारः) न सम्भवत्येव—यतः कमनीयस्य कर्म कामनीयकम् ('योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्'—इति कर्मणि वुञ् प्रत्ययः) काव्ये चारुत्वभावनोत्पादनहेतुत्वमित्यर्थः, अनतिवर्तमानस्य अनतिक्रामतस्तस्य ध्वनेरुक्तेषु पूर्वाचार्यैः प्रतिपादितेषु तेष्वेव काव्यचारुत्वहेतुषु गुणालङ्कारादिष्वन्तर्भावात्। अथवा तेषां गुणालङ्कारादीनां काव्यचारुत्वहेतूनां मध्येऽन्यतमस्य कस्यचिदेकस्यैव अपूर्वसमाख्या-

मात्रकरणे नूतनाभिधानमात्रकरणे सति यत्किञ्चन न तु विशिष्टमित्यर्थः कथनं स्यात्— (एवं तु पूर्वप्रतिपादितेषु काव्यचारुत्वहेतुषु गुणालङ्कारादिष्वेव कस्यचिदेकतमस्य नवीनं ध्वनिरिति नाम कृतं स्यात् । किन्तु तेन केवलं नूतनं नाम कृतं न तु किञ्चिद् नूतनं वस्तु प्रतिपादितं भवति ।)

किंच पुनश्च वाग्विकल्पानां वाङ्मयकाव्यरचनाप्रकाराणाम् आनन्त्याद् अपरिमेयत्वात् प्रसिद्धैर्भामहादिभिः काव्यलक्षणविधायिभिः काव्यशास्त्रनिर्मातृभिरप्रदर्शितेऽविवेचितेऽनुपदिष्टे वा कस्मिंश्चित् सुतरां नगण्ये प्रकारलेशे कस्यचित् प्रकारस्यांशमात्रे न तु सम्पूर्णप्रकाररूपे (अलीकख्यात ध्वनिवादिभिरुद्घाटिते सति) अलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैः स्वात्मनि मिथ्यासहृदयत्वमारोप्य हर्षविलेपादाकुञ्चितनेत्रप्रान्तैर्ध्वनिसमर्थकैरित्यर्थः ध्वनिर्ध्वनिरिति ससम्भ्रमं यन्नृत्यते हर्षातिशयोऽभिव्यज्यते तत्र इयद्धर्षातिशये हेतुं कारणविशेषं न विद्मो न पश्यामः । यतोऽन्यैर्महात्मभिरलङ्कारशास्त्रकारैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः सहस्रशोऽसंख्याका अलङ्कारप्रकाराः पूर्वं प्रकाशिताः, अधुनापि चान्यैर्महात्मभिः प्रकाश्यन्ते । न च तेषामलङ्कारप्रकाशकानामाचार्याणाम् एषा दशा ईदृशी हर्षविलेपान्धता ("स्वयंदर्पः परैश्चस्तूयमानता" इतिलोचनकाराः) श्रूयते । तस्माद् ध्वनिः प्रवादमात्रं केवलं नाम्नि तिष्ठति, मिथ्याकल्पितजल्पनामात्रमित्यर्थः । न तु तत् किञ्चिदीदृग् वस्तु विद्यते यस्य तत्त्वं क्षोदक्षमं सूक्ष्मविवेचनसहं स्यात् । तथा च अन्येन केनचिदभाववादिना ("ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना"— इतिलोचनकाराः) अत्र ध्वनिनिषेधविषये श्लोक एव कृतो रचितः—यस्मिन्नित्यादि— "यस्मिन् काव्ये किञ्चन वस्तु कोऽप्यर्थो मनःप्रह्लादि अर्थालङ्कारविशिष्टत्वाभावाद् मनआह्लादजनको नास्ति । व्युत्पन्नैर्वचनैः शब्दालङ्कारविशिष्टैः शब्दैश्च यत् काव्यं न रचितम् । यत् काव्यं च पुनर्वक्रोक्तिशून्यं शब्दार्थगुणाभिव्यञ्जकसंघटनारहितम् । तत् काव्यं ध्वनिना काव्यविशेषेण समन्वितं युक्तम् (वस्तुतस्तु वराको मनोरथो नाजानाद् यत् काव्यमेव ध्वनिर्भवति न तु ध्वनिना समन्वितं भवति । किन्तु यदि ध्वनिनेत्यस्य व्यञ्जकांशेनेति तस्य तात्पर्यं स्यात् तदा तदपि साधु ।) इति प्रीत्यागड्डरिकाप्रवाहानुसृतप्रेम्णा प्रशंसन् स्तुवञ्जडोविवेकशून्यो ध्वनिसमर्थकः सुमतिना विदुषा सुधिया ध्वनेः स्वरूपं पृष्टः सन् किम् अभिदधाति प्रतिपादयतीति नो विद्मो नो जानीमः" ।

अनु०—फिर, तीसरे अभाववादी उस ध्वनि के अभाव को प्रकारान्तर से प्रतिपादित कर सकते हैं—"ध्वनिनामक यह सर्वथा नूतन अर्थात् पूर्वप्रसिद्ध गुणालङ्कार से विलक्षण कोई (काव्य-प्रकार) सम्भव नहीं—क्योंकि कामनीयक अर्थात् काव्य में चारुत्वभावनोत्पादनहेतुता का अतिक्रमण न करने वाले उस ध्वनि का पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित उन्हीं चारुत्व-हेतु गुणालङ्कारादिकों में अन्तर्भाव हो जायगा । अथवा, काव्यचारुत्व-हेतु उन्हीं गुणालङ्कारादिकों में किसी एक का यह नया नाममात्र देने से कोई विशेष बात तो नहीं कही गयी होगी । अर्थात्—इस प्रकार तो पूर्वप्रतिपादित काव्य-

चारुत्वहेतुओं गुणालङ्कारादिकों में ही किसी एक का ध्वनि यह नया नाम कर दिया गया होगा—कोई नयी वस्तु नहीं कही गयी होगी।

अथवा फिर, वाङ्मयकाव्यरचना के अनन्तभणिति-प्रकार होने के कारण भामह-प्रभृति प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा अविवेचित अथवा अनुपदिष्ट किसी अत्यन्त नगण्य प्रकारांश को (उद्घाटित करके ध्वनिवादी लोग जो) ध्वनि-ध्वनि इस प्रकार (कहते हुए) अपने में सहृदयत्व की मिथ्या भावना का आरोपकर हर्षावलेप से नेत्रों को अर्ध-निमीलित कर नाचते हैं, उसमें कोई विशेष कारण नहीं समझ पड़ता। क्योंकि भामहो-द्भटप्रभृति अन्य अलङ्कारशास्त्रकारों ने पहिले असंख्य अलङ्कारप्रकार प्रकाशित किये और आज भी अन्य आचार्य प्रकाशित कर रहे हैं। किन्तु उन अलङ्कार-प्रकाशक आचार्यों की यह दशा (इस प्रकार की हर्षावलेपान्धता) नहीं सुनायी पड़ती। अतः 'ध्वनि' केवल गप्प है। यह केवल नाम भर को है—वस्तुतः ध्वनि कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं, जिसका स्वरूप-विश्लेषण किया जा सके। जैसा कि एक (अन्य अभाववादी) ने इस (ध्वनि-निषेध-) विषय में श्लोक ही बना दिया है—

"जिस काव्य में कोई अर्थ मन का आह्लादक नहीं है (अर्थात् जिसमें अर्थालङ्कार का अभाव है), जो व्युत्पन्न वचनों अर्थात् शब्दालङ्कारविशिष्ट शब्दों से नहीं रचा गया, और जो वक्रोक्ति अर्थात् गुणाभिव्यञ्जक संघटना से रहित है, उस काव्य की 'ध्वनि से युक्त है' इस प्रकार प्रशंसा करता हुआ विवेकशून्य ध्वनिवादी किसी सुधी द्वारा ध्वनि-स्वरूप के विषय में पूछे जाने पर, हम नहीं जानते, क्या बताएगा।"

(ध्व०)—भाक्त माहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुण-वृत्तिरित्याहुः।

दी० शि०—अन्ये (असहृदयाः) बुधास्तं ध्वनिसंज्ञितं ध्वनिनामानं काव्यात्मानं काव्यसाररूपं (काव्यप्रकारं वा) गुणवृत्तिरिति लक्षणावृत्तिरिति आहुः कथयन्ति।—(लक्षणावृत्तिमेव ध्वनिनामकाव्यमिति अज्ञानवशाद् एव ध्वनिवादिनः प्रतिपादयन्तीति तेषां भाक्तवादिनामाशयः।)

अनु०—अन्य (असहृदय) बुध लोग उस ध्वनि नामक काव्यात्मा (श्रेष्ठकाव्य विशेष) को गुणवृत्ति कहते हैं।

(ध्व०)—यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्ति-रन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।

दी० शि०—यद्यपि काव्यलक्षणविधायिभिः काव्यशास्त्रकारैर्ध्वनिशब्दमुल्लिख्य (सोऽयं ध्वनिरित्येवंरूपेण) गुणवृत्तिर्लक्षणावृत्तिर्वा अन्यः कश्चित् प्रकारो गुणालङ्काराद-

भेदो वेत्येवंरूपेण न प्रकाशितः। तथापि अमुख्यवृत्त्याऽभिधेतरेण व्यापारेण लक्षणानामव्यापारेणेत्यर्थः काव्येषु व्यवहारं दर्शयता स्वीकुर्वता केनचिदाचार्यविशेषेण ध्वनिमार्गोऽभिधेतरव्यापारप्रधानध्वनिकाव्यपद्धतिरपि मनागीषत् स्पृष्टा।

अयमाशयः—यदि केनचित् काव्येषु अमुख्यार्थप्रतिपादयित्री लक्षणावृत्तिः स्वीकृता तत् तेन तथैव अमुख्यार्थप्रधानो ध्वनिमार्गोऽपि लक्षणावृत्तिरूपेणैव स्वीकृतो यद्यपि स्वयं तेनापि नावधारितम् इयं लक्षणैव ध्वनिरितितदित्थं परिकल्प्य वितर्क्य कारिकायामुक्तं 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।

अनु०—यद्यपि काव्यशास्त्रकारों ने ध्वनि नाम लेकर उसे लक्षणावृत्ति या कोई अन्य गुणालङ्कारादिभेदरूप से नहीं प्रकाशित किया था, तथापि अमुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधेतर लक्षणा व्यापार द्वारा काव्यों में व्यवहार दिखाने वाले (किसी आचार्यविशेष द्वारा) ध्वनिमार्ग अर्थात् अभिधेतरव्यापारप्रधान ध्वनिकाव्यपद्धति भी मानों कुछ कह ही दी गयी है। तात्पर्य यह है कि किसी (पूर्ववर्ती आचार्य) ने काव्यों में अमुख्यार्थप्रतिपादयित्री लक्षणावृत्ति को स्वीकृत कर मानों अमुख्यार्थप्रधान ध्वनिमार्ग को भी उसी लक्षणावृत्ति के रूप में मान लिया—(यद्यपि स्वयं वह 'यह ध्वनि है' इस रूप में इसे ताड़ न सका)—यह तर्कना करके कारिका में—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' ऐसा कहा है।

(ध्व०)—केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।

दी० शि०—पुनश्च लक्षणकरणे ध्वनेर्लक्षणनिरूपणे शालीना अप्रगल्भा बुद्धिर्मतिर्येषां ते केचिद् बुधा ध्वनेस्तत्त्वं वैशिष्ट्यं गिरामगोचरं वाचामविषयम् इदमित्थमितिनिर्वक्तुमशक्यं केवलं सहृदयहृदयेनैव संवेद्यं (नत्वन्यहृदयेनेति) समाख्यातवन्तो व्याख्यातवन्तः। तेन हेतुनैवंविधासु पूर्वोक्तप्रकारासु विमतिषु विरुद्धविचाररूपासु स्थितासु विद्यमानासु—("विमतिष्विति निर्धारणेसप्तमी। आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तेनैवहेतुना"—इति लोचनकाराः) सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः। तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं वस्तुतः सकलानां समस्तानां सत्कवीनां काव्यस्योपनिषद्भूतं रहस्यभूतम् अतिरमणीयं किन्तु चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां प्राचां काव्यशास्त्रकाराणाम् अणीयसीभिरपि सूक्ष्मतमाभिरपि बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वं पूर्वं कदापि नोद्घाटितम्। अथ च पुनश्च रामायणमहाभारताद्युदाहरणरूपग्रन्थेषु प्रसिद्धो व्यवहारः प्रयोगो यस्य तद् ध्वनिस्वरूपमित्यर्थः, लक्षयताम्

इदमित्थमिति यथालक्षणं तद्रूपं पश्यतां सहृदयानां काव्यमर्मज्ञानां ("येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः"—इति लोचनकाराः) मनसि आनन्दः प्रमोदः प्रतिष्ठां शाश्वतीं स्थितिं लभतां प्राप्नोतु ते प्रमोदन्तामितिहेतोः (तद्ध्वनेः स्वरूपं) प्रकाश्यते निरूप्यत इत्यर्थः। (अथवा—आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थितिं गच्छत्विति भावः। स्वनामप्रकटीकरणं श्रोतॄणां प्रवृत्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखेनेति–लोचनकाराः)। अत्र ध्वनेः काव्यात्मत्वेनेति सम्बन्धः, स्वरूपं विषयः, सहृदया अधिकारिणः, तन्मनःप्रीतिः प्रयोजनम् इत्यनुबन्धचतुष्टयं प्रतिपादितम् ।१।

अनु०—फिर, लक्षणनिरूपण में अप्रगल्भमति वाले कुछ बुधों ने ध्वनि के वैशिष्ट्य को अवाग्विषय अर्थात् इदमित्थं इस प्रकार अशक्यनिर्वचन तथा केवल सहृदयहृदयसंवेद्य कहा है। अतः ऐसे विरुद्ध विचारों के रहते हुए सहृदय-मन की प्रसन्नता के लिए हम उसकास्वरूप प्रतिपादित करते हैं। उस ध्वनि का स्वरूप वस्तुतः समस्त सत्कवियों के काव्य का रहस्यभूत एवं अतिरमणीय होते हुए भी प्राचीन काव्य-शास्त्राचार्यों की अति सूक्ष्म (तीक्ष्ण) मति द्वारा भी अनुद्घाटितपूर्व ही रहा है। और फिर रामायण-महाभारत-प्रभृति उदाहरण रूप ग्रन्थों में उसके यथालक्षण स्वरूप का प्रयोग देखने वाले सहृदयों (काव्यमर्मज्ञों) के मन में आनन्द प्रतिष्ठा पाये, इसलिए उस ध्वनि का स्वरूप प्रकाशित किया जाता है।

(यहाँ ध्वनि की काव्यत्मता सम्बन्ध है, उसका स्वरूप विषय है, सहृदय अधिकारी हैं, तथा सहृदयमनःप्रीति प्रयोजन है। इस प्रकार अनुवन्धचतुष्टय प्रतिपादित किया गया है)

(ध्व०)—तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

दी० शि०—तत्र तस्मिन्ननुबन्धे निरूपित इत्यर्थः लक्षयितुं लक्षणेन निरूपयितुम् आरब्धस्य कृतारम्भस्य उपक्रान्तस्येत्यर्थः, ध्वनेर्वक्ष्यमाणकाव्यप्रकारविशेषस्य भूमिकां पूर्वमवश्यवक्तव्यमुपोद्घातं रचयितुमिदं, वक्ष्यमाणो व्यङ्ग्यार्थसद्भावविषयको द्वितीयकारिकातो द्वादशकारिकापर्यन्तग्रन्थभाग इत्यर्थः, उच्यते।

अनु०—उस (प्रयोजनादिरूप अनुवन्ध) का निरूपण हो जाने पर अव लक्षण द्वारा निरूपण करने के लिए उपक्रान्त ध्वनि नामक काव्यप्रकारविशेष की भूमिका के रूप में यह (अगला द्वितीय से द्वादश कारिका तक का ग्रन्थभाग अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ का सद्भावप्रतिपादक विषय का अंश) प्रतिपादित किया जा रहा है।

(ध्व०)— योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेतिव्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ २ ॥

दी० शि०—सहृदयैः श्लाघ्यो योऽर्थः काव्यस्य आत्मा जीवितभूत इत्येवंरूपेण व्यवस्थितः, तस्यार्थस्य वाच्यप्रतीयमाननामानावुभौ द्वौ भेदौस्मृतौ । अत्रापि प्रथमकारिकायामिव काव्यात्मपदं दृष्ट्वा लोचनकारेण प्रतीयमानोऽर्थ एव ध्वनिरूपेण गृहीतः—यथोक्तं तेनैवतत्र—"ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये" इत्यादि ।

अनु०—सहृदयों द्वारा श्लाघ्य जो अर्थ काव्य के जीवितरूप से व्यवस्थित किया गया है, उसके वाच्य एवं प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) दो भेद (या भाग) माने गये हैं । (इस कारिका में भी काव्यात्मपद देखकर लोचनकार ने इसे ही काव्यस्यात्मा ध्वनिः मान लिया ।)

ध्व०)—काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

दी० शि०—ललितो गुणालङ्कारोपस्कृत उचितो रसानुकूलश्च यः सन्निवेशः शब्दार्थविरचनं तेन यच्चारु मनोरमं तस्यैवंभूतस्य काव्यस्य शरीरस्यात्मेव शरीरे यथात्मा जीवितं तथेत्यर्थः साररूपतया श्रेष्ठांशरूपेण स्थितः सहृदयश्लाघ्यो न तु पामरमात्रप्रशंसितो योऽर्थः काव्यार्थस्तस्य वाच्य एको वाच्यरूपोऽपरश्च प्रतीयमानो व्यङ्ग्यरूप इति द्वौ भेदौ (भागौ वा) भवत इति शेषः ।

(सहृदयश्लाघ्योर्थ एव काव्यस्य जीवितभूतः । तस्य च भागद्वयमस्ति वाच्यभागः प्रतीयमानभागश्च । प्रतीयमानभागस्याभावे काव्ये विद्यमानं केवलं वाच्यमर्थं तु सहृदयाः श्लाघन्त एव न । किञ्च तत् ते काव्यमेव न मन्यन्ते । ध्वनौ व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यमात्मत्वं वा, गुणीभूतव्यङ्ग्ये च व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यस्यैव प्राधान्यमात्मत्वंचेति व्यवस्थितम् । अतः तदुभयमेव काव्यम् । तादृशव्यङ्ग्यसम्पर्करहितं तु काव्यमेव न भवति । चित्रं तदुच्यते । यथाहि वक्ष्यते—प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते । उभे काव्ये ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयत—इति ।) । २ ।

अनु०—गुणालङ्कारोपस्कृत रसानुकूल शब्दार्थों द्वारा विरचित मनोरम काव्यरूप शरीर में जीवित की भाँति श्रेष्ठांश रूप से स्थित जो सहृदयों द्वारा श्लाघ्य (न कि केवल पामरों द्वारा प्रशंसित) अर्थ होता है, उसका एक वाच्य तथा दूसरा व्यङ्ग्य ये दो भेद (या भाग) होते हैं । अर्थात्—सहृदयश्लाघ्य अर्थ ही काव्य का प्राण होता है । उसके दो भाग होते हैं वाच्य-भाग तथा प्रतीयमान-भाग । प्रतीयमान-भाग के अभाव में काव्य में विद्यमान केवल वाच्य-भाग की तो सहृदय लोग प्रशंसा ही नहीं करते—यहाँ तक कि उसे काव्य ही नहीं मानते—जैसा कि आगे कहा जायगा—"इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ के प्रधान एवं गौण रूप से स्थित रहने पर ध्वनि एवं गुणीभूत व्यङ्ग्य ये ही दो काव्य-प्रकार होते हैं । अर्थात् ध्वनि में व्यङ्ग्य अर्थ आत्मरूप होता है और गुणीभूतव्यङ्ग्य में

व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्य अर्थ आत्मरूप होता है उससे अतिरिक्त जो रचना होती है वह (आत्महीन) चित्र कहलाती है—काव्य नहीं । २ ।

(ध्व०)— तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः
काव्यलक्ष्मविधायिभिः
ततोनेह प्रतन्यते ॥ ३ ॥
केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ॥ ३ ॥

दी० शि०—तत्र तयोर्द्वयोर्वाच्यप्रतीयमानाख्ययोरर्थयोर्मध्ये यो वाच्यभागः स उपमाद्यर्थालङ्काररूपेण काव्ये प्रसिद्धः । (य इमेऽर्थालङ्कारा इति प्रसिद्धा उपमादयस्ते वाच्यस्य धर्मविशेषा अथवा विच्छित्तिविशेषा एव) स चान्यैर्भामहोद्भटादिभिः काव्यलक्ष्मविधायिभिः काव्यालङ्कारविवेचकैः काव्यशास्त्रकारैर्बहुधा विविधवाच्यालङ्कारनिरूपणप्रकारेण व्याकृतो व्युत्पादितः । ततस्तेन हेतुना स वाच्योऽर्थ इह ग्रन्थे न प्रतन्यते न सविस्तरं निरूप्यते । केवलं यथोपयोगम् उपयोगानुसारम् आवश्यकतानुसारमित्यर्थः, अनूद्यते पूर्वैर्यथोक्तं तथैवोल्लिख्यत इत्यर्थः । ३ ।

अनु०—उन (वाच्यप्रतीयमान) अर्थों के बीच वाच्य भाग वह है, जो उपमादि वाच्यालङ्काररूप से काव्य में प्रसिद्ध है । (उपमादि अर्थालङ्कार काव्य में वाच्य अर्थ के ही धर्म हैं, जिनसे युक्त होने पर अर्थ उन अलङ्कारों से युक्त कहे जाते हैं) और वह अन्य भामह, उद्भट आदि काव्यशास्त्रकारों द्वारा विविध वाच्यालङ्काररूप से विवेचित हुआ है । अतः इस ग्रन्थ में उस वाच्य अर्थ का सविस्तर निरूपण नहीं किया जायगा, केवल आवश्यकतानुसार उसका उल्लेखमात्र कर दिया जायगा । ३ ।

(ध्व०) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ४ ॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्योवावयवेभ्योव्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

दी० शि०—महाकवीनां सर्वेषामेव महतां कवीनां वाल्मीकिव्यासकालिदासप्रभृतीनामित्यर्थः (महाकवीनामितिबहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह । एतदभिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीति—लोचनकाराः) वाणीषु काव्यरूपासु, प्रतीयमानं पुनर्वाच्यात् पृथगन्यदेव वस्तु अर्थरूपमस्ति । यत्तद् इति यच्छब्दस्य निकटे स्थितस्तच्छब्दः प्रसिद्धिं परामृशति तेन यत्तदित्येतयोः "यत् सहृदयहृदयप्रसिद्धं प्रतीयमानं वस्तु" इत्यर्थ आयाति । अङ्गनासु,

प्रशस्ताङ्गवतीषु स्त्रीषु प्रसिद्धेभ्यो ज्ञातेभ्योऽलङ्कृतेभ्यो वा मुखनासिकादिभ्योऽवयवेभ्योऽतिरिक्तं पृथग् अनुभूयमानं लावण्यं मुक्ताफलेष्वन्तस्तारल्यप्रख्यं तत्त्वमिव विभाति शोभते। तदेव वृत्तौ विशदीकरोति प्रतीयमानमित्यादिना। यथाहि अङ्गनासु सुन्दरीषु ललनासु लावण्यं नामावयवसंस्थानादिव्यङ्ग्यम् किन्तु अवयवातिरिक्तं किमपि अन्यदेव सहृदयानां लोचनयोरमृतमिवाह्लादकं तत्त्वान्तरं तत्त्वं प्रकाशते तथैव काव्ये स प्रतीयमानोऽर्थो द्योतत इत्यर्थः।

अनु०—(सभी वाल्मीकि-व्यास-कालिदास-प्रभृति) महाकवियों की (काव्यरूप) वाणी में प्रतीयमान (वाच्य से) एक पृथक् ही (अर्थरूप) वस्तु होता है, जो (सहृदय-हृदय-प्रसिद्ध) प्रशस्त अङ्गों वाली स्त्रियों में प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त गोचर होनेवाले लावण्य की भाँति शोभा पाता है।

इसी को वृत्ति में विशद करते हैं—जैसे सुन्दरी ललनाओं में अवयवसंघटन से अभिव्यज्यमान लावण्यनामक कोई एक पृथक् सहृदयलोचनासेचक तत्त्व प्रकाशित होता है, वैसे ही काव्य में वह प्रतीयमान अर्थ द्योतित होता है।

(ध्व०)—स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण॥

दी० शि०—तस्य प्रतीयमानस्य स्वरूपमभिधत्ते—स प्रतीयमानोऽर्थो हि अनेकैः प्रभेदैर्विविधाकारैस्त्रिभिः प्रकारैरित्यर्थः प्रभिन्नः प्रविभक्तरूप इत्यग्रे दर्शयिष्यते वक्ष्यते। ते च प्रभेदा वस्तुमात्रम् अनलङ्कृतार्थरूप इत्येकः प्रकारः। अलङ्कारा वाच्यदशायाम् उपमादिनामभिः प्रसिद्धा येऽर्थास्त एव व्यङ्ग्यरूपाः सन्तोऽपि पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलात् पूर्वालङ्कारनामभिरेवोल्लिख्यन्ते ब्राह्मणश्रमणन्यायेनेति द्वितीयः प्रकारः। रसादयश्चेति आदिशब्देन भावरसाभासादयोऽपि संगृहीता इति तृतीयः प्रकारः। किन्तु एते त्रयोऽपि व्यङ्ग्यप्रकारा वाच्यसामर्थ्येनैव वक्तृबोद्धव्यादिरूपवैशिष्ट्येन वाच्यबोधानन्तरवाच्यबलेनैव आक्षिप्यन्ते द्योत्यन्ते (वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमित्यस्य वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेति त्रिभिरप्यन्वयात्—वाक्यसामर्थ्याक्षिप्तञ्च वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ताश्च वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ताश्चेति 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति सूत्रेणैकशेष एकवचनत्वं च।) तथा च त्रिप्रकारोऽपि व्यङ्ग्यो वाच्याद् अन्यो विभिन्न एव—यो हि तत्र वाच्योऽर्थः स एव व्यङ्ग्यो न भवतीत्यर्थः (अत्रापि प्रतीयमानोऽर्थो लोचनकारेण भ्रान्त्या ध्वनिरूपेण गृहीतः यथोक्तं तेनैव—"यस्तु स्वप्नेऽपि न वाच्यो न लौकिक-व्यवहारपतितः''''रसः, सकाभ्यव्यापारैक-

गोचरो रसध्वनिः, स च ध्वनिरेव स एव मुख्यतयात्मेति)। तथाहि तदनुसारं हि आद्यस्तावत्प्रभेदः प्रथमो वस्तुरूप एव व्यङ्ग्यार्थप्रकारो वाच्यार्थाद् दूरमत्यन्तं सर्वथा वा विभेदवान् विपरीताकार इत्यर्थः। यतः कदाचित् क्वचिद् वाच्येऽर्थे विधिरूपे निषेधाभावात्मकप्रवर्तनरूपे सति स व्यङ्ग्योऽर्थःप्रतिषेधरूपो दृश्यत इतिशेषः। (विधिनिषेधौविरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिरितिलोचनकाराः।)

यथा—भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ (इतिच्छाया)

अथ गोदावरीतीरस्थलताकुञ्जं स्वाभिसारस्थलीभूतं प्रति कुसुमावचयार्थं गच्छन्तं कञ्चिद् धार्मिकं विघ्नं मन्वाना काचिद् विदग्धापि सुन्दरी मुग्धेव तं गमनान्निषेद्धुं व्यञ्जनया ब्रूते—भो धार्मिक, विस्रब्धः निश्शङ्कः सन् भ्रम इतोऽग्रे गच्छ, यतोऽद्य यः प्रतिदिनं त्वामभीषयदित्यर्थः (यस्ते भयप्रकम्प्रामङ्गलतिकामकृतेति लोचनकाराः) स शुनकः श्वा तेन प्रसिद्धेन सर्वैर्ज्ञातवासेनेत्यर्थः गोदावरीतीर-लतागहन-कृतनिवासेन अधुनापि तत्रैवस्थितेनेत्यर्थः दृप्तसिंहेनाकुतोभयेन सिंहेन मारितः—(तत्र गतस्तस्यैव मुखे पतिष्यसीति इत एव परावर्तस्व, मा अग्रे गन्तुं मुधा साहसं कृथा इति व्यङ्ग्यः।)

अनु०—(उस प्रतीयमान अर्थ का स्वरूप कहते हैं)—वह प्रतीयमान अर्थ अनेक (तीन) प्रभेदों में विभक्त है यह आगे दिखाएँगे। और वे प्रभेद हैं—प्रथम तो केवल वस्तु-अर्थात् अनलङ्कृत अर्थरूप। द्वितीय, अलङ्काररूप—अर्थात् जो वाच्यरूप में उपमादिनाम से प्रसिद्ध हैं वे ही अर्थ व्यङ्ग्यरूप होकर पूर्वप्रत्यभिज्ञानबल से वाच्यदशा में प्राप्त अलङ्कारनाम से उल्लिखित होते हैं—जैसे कोई ब्राह्मण जब श्रमण (बौद्ध भिक्षु) हो जाता था तो उसे पूर्वप्रत्यभिज्ञाबल से 'ब्राह्मणश्रमण' यह विशेष नाम दिया जाता था। और तृतीय, रसभावरसाभासादिरूप।

किन्तु ये तीनों ही व्यङ्ग्यप्रकार वाच्यसामर्थ्य से अर्थात् वाच्यबोध के पश्चात् (वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से) वाच्यद्वारा द्योतित किये जाते हैं। ओर यह तीनों प्रकार का व्यङ्ग्य वाच्य से पृथक् ही होता है—अर्थात् जो वाच्य है वही व्यङ्ग्य नहीं होता। जैसा कि प्रथम (वस्तुरूप व्यङ्ग्य) प्रकार वाच्य से सर्वथा भिन्न रूप वाला देखा जाता है। कभी वाच्य अर्थ के विधि (affirmative)—रूप रहने पर वह व्यङ्ग्य अर्थ प्रतिषेध (Negative)—रूप दिखाई पड़ता है। जैसे—

अपने अभिसारस्थल गोदावरी के तीरस्थ लताकुञ्ज की ओर जाते हुए किसी धार्मिक को विघ्न समझती हुई कोई विदग्धा सुन्दरी उस धार्मिक को जाने से रोकने के लिए व्यञ्जना के सहारे मुग्धा-सी कहती है·"हे धार्मिक जी, निर्भय होकर इधर से जाओ। आज वह कुत्ता (जो प्रतिदिन तुम्हें डराया करता था) गोदावरी के तीरस्थ-लताकुञ्ज में स्थित उस दृप्त बाघ द्वारा समाप्त कर दिया गया।" (अर्थात वहाँ

गये तो तुम भी उसी के मुँह में पड़ोगे अतः यहीं से लौट जाओ, आगे जाने का साहस मत करो।)

(ध्व०)—क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥

दी० शि०—क्वचिद् वाच्येऽर्थे प्रतिषेधरूपे सति तत्र व्यङ्ग्योऽर्थो विधिरूपो नितरां विपरीतो भवतीत्यर्थः —यथा—

"श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहंदिवसकं प्रलोकय। मा पथिक राज्यन्धक शय्याया-मावयोर्निमाङ्क्षीः।" (इतिच्छाया —काचिच्चलितचारित्रमुद्रा प्रोषितपतिका तरुणी सन्ध्यायां स्वगृहे निवासार्थं स्थितं कञ्चिद् युवानं, तस्य मदनभावं विलोक्य स्वयमपि तं प्रति उत्पन्नमन्मथव्यथावेशा, व्यञ्जनयाऽभ्यनुजानाति—हे रात्र्यन्धक पथिक, अत्रास्यां शय्यायां मम श्वश्रूर्निमज्जति जराजीर्णत्वाच्छय्यायां पतित्वा निश्चेतनेव शेत इत्यर्थः। अत्र शय्यायां चाहं स्वयं शय इति शेषः। एतत् त्वं दिवसकं यावद् दिवसस्तिष्ठति तावत्कालपर्यन्तं सम्यग् भूयो भूय इत्यर्थः प्रलोकय पश्य परिचिनुहि। आवयोः शय्यायां मा निमाङ्क्षीः मा पतः। अथवा, दिवसकं कुत्सितं दिवसं 'कुत्सिते' इति कप्रत्ययः प्रलोकय प्रतिपालय यथा कथञ्चिद् अतिवाहय।

अत्र प्रतिषेधे वाच्येऽपि पथिकं प्रति आरोपितेन रात्र्यन्धक इति विशेषणेन वक्तृ-बोद्धव्यवैशिष्ट्याद् विधिः प्राधान्येनाभिव्यज्यते। यथाह महिमभट्टः—'अत्र निशान्ध-ताध्यारोपेण स्वशयनस्पर्शप्रतिषेधमुखेन श्वश्रूशय्या सन्निवेशदेशं दर्शयन्ती रात्रावत्र मदीय एव शयनीये त्वया निभृतमुपस्थातव्यमिति तैस्तैराकारैः प्रतिषेधमुखेन स्वाभिप्रेत-मर्थमस्मै निवेदयते'। इति।

अनु०—कहीं वाच्य अर्थ के प्रतिषेधरूप रहने पर व्यङ्ग्य अर्थ विधिरूप होता है—जैसे—कोई मनचली युवती सन्ध्या की वेला में अपने घर निवास के लिए टिके किसी युवा पथिक को, उसके अपने प्रति भावविकार को ताड़कर तथा स्वयमपि उसके प्रति मदनवश होकर, व्यञ्जना से अपनी स्वीकृति देती है—'हे रतौंधी के मरीज़ बटोही, अभी दिन है, देख लो कि इस खाट पर मेरी सास जी डूबी रहती हैं और इस खाट पर मैं। कहीं हम लोगों की खाट पर मत गिर पड़ना।'

यहाँ वाच्य तो प्रतिषेधरूप है, किन्तु पथिक को दिया गया (आरोपित) विशेषण 'रात्र्यन्धक' विशेषण ही (जिससे वक्तृबोद्धव्य का वैशिष्ट्य भी अभिव्यक्त हो जाता है) विधिरूप अर्थ का प्राधान्येन अभिव्यञ्जन कर रहा है।

(ध्व०)—क्वचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्य जाअन्तु॥

दी० शि०—क्वचिद् वाच्योऽर्थो विधिरूपो व्यङ्ग्योऽर्थः पुनर्न विधिरूपो न च निषेधरूप एव प्रत्युत उभयविलक्षणरूपः । यथा—

"व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ।" (इतिच्छाया)

अत्र कयाचित् खण्डितयाऽन्तर्ज्वलितेर्ष्याप्रकोपया सावहित्थं सोल्लुण्ठनं सप्रणयौचित्यम् अन्यासक्तहृदयो दक्षिणनायको भर्त्स्यते—"भोः कितव, व्रज स्वप्रेयसीपार्श्वं गच्छ । एकस्या ममैव निश्श्वासरोदितव्यानि त्वद्विरहविहितानि भवन्तु । मा तवापि मां प्रति-दाक्षिण्यमात्रविवशस्य वस्तुतस्तु तस्यामेव निर्व्याजमनुरक्तहृदयस्य तया प्रेषितप्रेयस्या विना तानि तद्विरहविहितानि निश्श्वासरोदितव्यानि जनिषत भूवन्निति ।

अत्र "सर्वथा शठस्त्वं मयि केवलं कृतकप्रणयं प्रदर्शयसि वस्तुतस्तु तस्यामेव गाढमनुरक्त" इति भर्त्सनं व्यज्यते—तच्च विधिरूपे वाच्ये न निषेधरूपं न वाऽन्य-विधिरूपम् ।

अनु०—कहीं वाच्य अर्थ तो विधिरूप होता है किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ न विधिरूप और नहीं निषेधरूप, अपितु उभयविलक्षणरूप होता है—जैसे—कोई मन में ईर्ष्या-कोप से भरी खण्डिता नायिका अन्यासक्त-हृदय दक्षिणनायक को सप्रणयौचित्य भर्त्सना दे रही है—"(अपनी प्रिया के पास) जाओ, मुझ अकेली को ही आहें भरना और रोना हो । कहीं तुम्हें भी (मुझसे झूठा प्रेम का दिखावा करने वाले) उसके बिना ये (आहें और रोना) न हो जाये ।

यहाँ "तुम सर्वथा शठ हो । मुझमें तुम्हारा केवल बाहरी प्रेम दिखाने को है । वास्तव में तो उसी (मेरी सौत) में तुम्हारा गाढानुराग है", यह भर्त्सना व्यञ्जित हो रही है, जो वाच्य के विधिरूप रहने पर न निषेध रूप है न अन्य विधिरूप ही ।

(ध्व०)—क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ निवत्तसु मुहससिजोह्लाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥

दी० शि०—काचिद् रभसात् प्रियतममभिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमेवागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन—

"प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे । अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ।" (इतिच्छाया)—हे मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमो-निवहे मुखचन्द्रचन्द्रिकापसारितान्धकारपुञ्जे, त्वां प्रार्थये, प्रसीद, निवर्तस्व व्यवसितं गमनमग्रे मा कार्षीः । हे हताशे,—एतद् नर्मवचनम् आत्मप्रत्यभिज्ञापनार्थम् । अन्यासामपि अभिसारिकाणां रमणार्थं सङ्केतं गच्छन्तीनां विघ्नं करोषि स्वमुखचन्द्रप्रकाशकरणात् । अपि-ग्रहणात् तव तु विघ्नरूपः स्वमुखप्रकाश एव वर्तते—अत एव हताशा त्वमिति प्रियकृतं चाटु एवात्र व्यज्यते ।

अनु०—कहीं वाच्य के प्रतिषेधरूप रहने पर वह व्यङ्ग्य अनुभयरूप होता है—जैसे—कोई वेग से प्रियतम के घर अभिसार करती हुई नायिका उसी के घर की ओर जाते हुए अपरिचित-से बने हृदय-वल्लभ द्वारा इस प्रकार चाटु पाती है—"अपने मुख-चन्द्र की चन्द्रिका से अन्धकार को दूर करने वाली हे सुन्दरी, मेरी प्रार्थना है। प्रसन्न होओ। लौटो–आगे न जाओ। हे हताशे, (यह नर्मवचन अपने को परिचित सूचित करने के लिए दिया गया है) अन्य अभिसारिकाओं को भी अपनी मुख-चाँदनी से विघ्न कर रही हो (तुम्हारा तो स्वतः विघ्न हो ही रहा है–यह अपि का अर्थ है)।"

यहाँ 'लौटो' (अर्थात् आगे न जाओ) इस प्रकार के प्रतिषेधरूप वाच्य से प्रिय द्वारा प्रिया की चाटुता ही व्यङ्ग्य हो रही है।

(ध्व०)—क्वचिद् वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्लिम्॥

दी० शि०—पूर्वोदाहरणैर्वाच्यव्यङ्ग्ययोः स्वरूपभेदाद् भेदः प्रतिपादितः अधुना-विषयभेदादपि तयोर्भेदः प्रतिपाद्यते—विभिन्नो विषयो बोद्धव्यो जनो यस्य तत्त्वेन व्यवस्थापितो नियमितो वक्त्रेतिशेषः। यथा – "कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्। सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम्।" (इतिच्छाया) काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोक-मानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते—"प्रियायाः स्वप्रियतमायाः सव्रणम् अनात्मकृतक्षतभाजम् अधरं दृष्ट्वा कस्य वा पुंसो रोषो न भवति सभ्रमरं यत्पद्मं तदाघ्रातुं शीलं यस्यास्तत्संबुद्धौ तथा वारिते वारणायां वामा प्रतिकूलाचरणशीला तत्संबुद्धौ, इदानीं सहस्व वामाचरणस्यास्य फलं भुङ्क्ष्व।"

अत्र वाच्यार्थस्य बोद्धव्या स्वयं नायिका व्यङ्ग्योऽर्थस्तु तांस्तान् बोद्धव्यान् प्रति विविधानि रूपाणि धत्ते-तानि यथा—"अपराधो नास्तीति" व्यङ्ग्यस्य तद्भर्ता विषयः। "भ्रमरकृतं क्षतमेतदिति नेयं चलितचरित्रेति"—प्रातिवेशिकलोको विषयः। 'पत्युः प्रियतमेयमिति'—'प्रियायाः' इति शब्दबलादिति सपत्नीजनो विषयः। 'पत्यु-रुपालम्भोऽपि प्रियतमां प्रत्येव भवति न तु सामान्यामप्रियां प्रतीति स्वयं नायिका विषयः। "अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता किन्तु पुनरेवं प्रकट-रदनदंशनविधिर्न विधेय इति तु चौर्यकामुक विषय इति।

अनु०—पूर्वोदाहरण में वाच्य-व्यङ्ग्य का स्वरूपभेद के कारण भेद दिखाया गया है। अब विषय (बोद्धव्य)—भेद से भी उनका परस्पर भेद बताया जा रहा है। विषय का अर्थ है बोद्धव्य जन, जो वक्ता द्वारा नियत किया जाता है—जैसे कोई कुलटा नायिका, जिसका अधर कहीं से खण्डित किया गया है, समीप में (कहीं स्थित) उसके पति को न देखती हुई-सी विदग्ध सखी द्वारा दोष-परिहारार्थ इस प्रकार कही जा रही

है—"अपनी प्रियतमा का (अपने द्वारा न किया गया फिर भी) खण्डित अधर देखकर भला किस पुरुष को रोष न होगा ? हे भ्रमरयुक्त कमल को सूँघने की आदत वाली, मना करने के विरुद्ध आचरण करने वाली अब तू इसका फल भोग।"

यहाँ वाच्यार्थ का बोद्धव्य तो स्वयं नायिका है, किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ उन-उन बोद्धव्यों के प्रति विविधरूप धारण करता है—जैसे–'अपराध नहीं है'—इस व्यङ्ग्य का विषय उसका पति है; 'यह व्रण भ्रमर का किया हुआ है—यह चल-चरित्रा नहीं है'—इस व्यङ्ग्य का विषय पड़ोसी लोग हैं; 'प्रिया' शब्द के प्रयोग से 'यह अपने पति की प्रियतमा है' इस व्यङ्ग्य का विषय उसकी सौतें हैं; 'पति का उपालम्भ भी जो प्रियतमा है उसी के प्रति होता है अप्रिया के प्रति नहीं', इस व्यङ्ग्य का विषय वह नायिका स्वयं है; 'आज तो मैंने तुम्हारी इस चहेती को बचा लिया, पर खबरदार जो ऐसी गुस्ताखी फिर कभी की' इस व्यङ्ग्य का विषय उसका उपपति (प्रच्छन्न कामुक) है।

(ध्व० —अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत् प्रदर्शितम्।

दी० शि०—प्रतीयमानस्य चैवंरूपा वाच्यार्थात् सुतरां भिन्नस्वरूपा भेदाः प्रकाराः सम्भवन्ति। पूर्वोक्तोदाहरणेषु तेषां प्रतीयमानप्रकाराणां दिङ्मात्रं निदर्शितम्। यथा च—साहित्यदर्पणे संगृहीतम्—

"बोद्धृस्वरूप-सङ्ख्या-निमित्त-कार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥" इति।

अनु०—प्रतीयमान अर्थ के वाच्यार्थ से सुतरां भिन्नस्वरूप ऐसे अन्य प्रकार भी सम्भव हैं—पूर्वोक्त उदाहरणों में उनका दिङ्मात्र प्रदर्शित किया गया है।

(ध्व०)—द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते।

दी० शि०—अलङ्काररूपः प्रतीयमानार्थस्य द्वितीयः प्रकारोऽपि वस्तुमात्र-प्रकारवद् वाच्यात् पृथग्रूप इति सप्रपञ्च सविस्तरमग्रे द्वितीयोद्योते विवक्षितान्यपरवाच्यस्य संलक्ष्यक्रमप्रभेदनिरूपणावसरे। तस्य बहुवक्तव्यत्वाद् अत्र द्वित्रैरुदाहरणैर्न सर्वं सम्यक् प्रतिपादयितुं शक्यम् इत्यर्थः।

अनु०—प्रतीयमान अर्थ का अलङ्काररूप दूसरा भी प्रकार वस्तुमात्र प्रकार की भाँति वाच्यार्थ से पृथग्रूप ही होता है—यह आगे द्वितीय उद्योत में सविस्तर बताएँगे—अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद का निरूपण करते समय। उसमें अधिक बातें कहनी हैं, जो इन दो-तीन उदाहरणों द्वारा सभी सम्यक् नहीं कही जा सकती हैं।

(ध्व०)—तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव। तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन्

पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत् तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। न हि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते। ४।

दी० शि०—किन्तु रसादिलक्षणो रसादिरूपः। आदिग्रहणेन भाव-रसाभास-भावाभास-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलतारूपा व्यङ्ग्यार्थप्रकाराः संगृहीताः। स च वाच्यसामर्थ्येन वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्येन विभावादिरूपेण व्यञ्जनापरिगतेन वाच्यार्थेनैव—अथवा वाच्यस्याभिधेयार्थस्य सामर्थ्यं शक्तिः व्यञ्जना व्यापारस्तेनैव—आक्षिप्तोऽभिव्यक्तः सन् प्रकाशते बोधविषयो भवति। न तु साक्षाच्छब्दव्यापारस्य शब्दसहजशक्तेरभिधाशक्तेरित्यर्थः, विषयः प्रतिपाद्यः अस्तीति शेषः। इत्यतः स रसादिरूपोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थोवाच्याद्भिन्नस्वरूप एव। तस्य वाच्यत्वं तु सम्भवत्येव न। तथाहि तस्य रसादेः स्ववाचकरसादिशृङ्गारादिशब्दैर्निवेदितत्वेन अभिधया प्रतिपादनेन; विभावादीनाम् अभिधया प्रतिपादनेन तन्मुखेन तद्द्वारा ('तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः' इति लोचनकाराः) वा वाच्यत्वं सम्भवति। पूर्वस्मिन् पक्षे रसादिशब्दैः शृङ्गारादिशब्दैश्च रसप्रतिपादने स्वादरूपरसबोधे स्वीकृत इत्यर्थः यत्र स्वशब्दैर्निवेदितत्वं नास्ति तत्र रसादीनां प्रतीतेरभावः प्राप्तो भवति। किन्तु प्रायः सर्वत्र तेषां रसादीनां स्वशब्दैर्निवेदितत्वं नैव दृश्यते–विनापि स्ववाचकशब्दै रसास्वादो भवत्येवेत्यर्थः। यत्रापिच रसभावादीनां तत् स्वशब्दनिवेदितत्वमस्ति तत्रापि तद्वाचकशब्दमहिम्ना तदास्वादो नैव भवति, अपितु विशिष्टानां विभावादीनां विभावानुभावविशेषाणां प्रतिपादनमुखेनैव वर्णनद्वारेणैवैषां रसभावादीनां प्रतीतिरास्वादो भवतीति शेषः। स्वशब्देन रसभावादिवाचकशब्दप्रयोगेण तु सा रसप्रतीतिः केवलम् अनूद्यते पिष्टपेषणीक्रियते। नतु तत्कृता स्ववाचकशब्दैर्वाच्यरूपेणास्वादपदवीं नीतेत्यर्थः। विषयान्तरे विभावादिवर्णनरहिते रसभावादिस्ववाचकसहिते काव्ये तथा अलौकिकचमत्कारप्रकारेण तस्या रसप्रतीते रसास्वादस्येत्यर्थः अदर्शनात्। एवं हि केवल शृङ्गारादि-रसभावादि-वाचक-सहिते किन्तु विभावानुभाववर्णनरहिते काव्ये मनाक् स्वल्पापि रसवत्त्वप्रतीती रसास्वादो नास्ति। उक्तमेवोपसंहरति—यतः स्वस्य रसस्य भावस्य वाभिधानं नामधेयवाचकं शब्दम् अन्तरेण विनापि केवलेभ्यो विशिष्टेभ्यो विभावादिभ्यो वर्णितेभ्य एव रसादीनां प्रतीतिः, केवलाच्च स्वाभिधानाद् विशिष्टविभावादि-प्रतिपादनं विना रसादीनाम् अप्रतीतिः, तस्मात् कार्यसत्त्वे कारणसत्त्वमिति यो-

ऽन्वयः, कारणाभावे कार्याभाव इति यश्चव्यतिरेकस्ताभ्यामुभाभ्यामपि सबन्धाभ्यां विभावादिप्रतिपादनरूपवाच्यार्थबलेन व्यङ्ग्यत्वमेव रसादीनां रसादीनामास्वादस्यायाति न त्वभिधेयत्वं स्ववाचकवाच्यरूपत्वं कथञ्चिदिति। एवमुक्तप्रकारेण तृतीयोऽपि रसादि-रूपः प्रतीयमानप्रकारो वाच्याद् भिन्नो व्यतिरिक्त एवेति स्थितं सुसाधितम्। अस्य रसादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य (न तु वस्त्वलङ्कारपयोर्व्यङ्ग्ययोरपि) प्रतीतिर्वाच्येनार्थेन सह तुल्यकालम् इव, न तु सहैव, विद्यमानस्यापि क्रमस्यालक्ष्यत्वात्, भवतीत्यग्रे द्वितीयोद्योतेऽ-संलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणप्रसङ्गे दर्शयिष्यते।४।

अनु०—किन्तु रसादिस्वरूप (आदि कहने से भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, और भावशवलतारूप व्यङ्ग्यार्थ के प्रकार भी गृहीत हो जाते हैं) तो वाच्यार्थरूप जो विभावादि, उनके सामर्थ्य से, अर्थात् उनके बोध के पश्चात् उनकी व्यञ्जना नामक शक्ति से आक्षिप्त या अभिव्यक्त होकर प्रकाशित होता है—अर्थात् वोध-विषय बनता है। वह अभिधा शक्ति का विषय नहीं होता। अतः वह रसादिरूप व्यङ्ग्य अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न स्वरूपवाला ही है। उसका वाच्य होना तो सम्भव ही नहीं। क्योंकि उस रसादि का वाच्यत्व दो प्रकार से हो सकता है—एक उसके स्ववाचक रसादि अथवा शृङ्गारादि शब्दों को कहकर; दूसरे अभिधा द्वारा विभावादि का वर्णन कर। यहाँ प्रथम पक्ष स्वीकार कर लेने पर, जहाँ रसादि का स्ववाचक शब्द द्वारा प्रतिपादन नहीं हुआ है, वहाँ रसादि की प्रतीति का अभाव प्राप्त होने लगेगा। किन्तु प्रायः सर्वत्र ही उन रसादिकों का स्ववाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादन नहीं ही दिखाई पड़ता है—अर्थात् विनाभी स्ववाचक शब्दों के वहाँ रसास्वाद होता ही है। और जहाँ कहीं रसभावादिकों का स्वशब्दप्रतिपादितत्व होता है वहाँ भी उनके वाचक शब्दों की महिमा से नहीं अपितु विशिष्ट विभावानुभाव के प्रतिपादनद्वारा ही इन रसभावादिकों की प्रतीति या आस्वाद होता है। रसभावादि के वाचक शब्द का प्रयोग तो उस अनुभूति का केवल शाब्दबोध कराता है—अर्थात् पिष्टपेषणमात्र करता है। वाचक शब्द स्वयं उस आस्वाद को नहीं कराता—क्योंकि अन्यत्र, जहाँ विभावादि का वर्णन नहीं है, किन्तु रसभावादि के वाचक शब्द का प्रयोग हुआ है, उस रसास्वाद का उस अलौकिक चमत्कार प्रकार से दर्शन नहीं होता। इस प्रकार केवल शृङ्गारादि अथवा रसभावादि के वाचक शब्द से युक्त किन्तु विभावादि के वर्णन से रहित काव्य में स्वल्प भी रसवत्ता की प्रतीति नहीं होती। अतः उपसंहार करते हैं कि चूँकि रसभावादि के वाचक शब्द के बिना भी केवल विशिष्ट विभावादिकों के वर्णित होने से ही रसादि की प्रतीति होती है, और विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन के बिना केवल रसादि के स्ववाचक शब्द के प्रयोग से प्रतीति नहीं होती, अतः दोनों ही अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्धों से विभावादिप्रतिपादन रूप वाच्यार्थद्वारा ही रसादिकों के आस्वादन की व्यङ्ग्यता ही आती है, वाच्यता किसी प्रकार नहीं।

इत्थं रसादिरूप तीसरा भी प्रतीयमानप्रकार वाच्य से व्यतिरिक्त ही है। इस रसादिरूप व्यङ्ग्य को प्रतीति तो वाच्य के साथ-सी (साथ ही नहीं) होती है—यह आगे द्वितीय उद्योत में असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि-निरूपण के प्रसङ्ग में दिखाया जायगा।४।

(ध्व०)— काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ५ ॥

दी० शि०—स 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेवेत्यादिकारिकया निरूपितः प्रतीयमानोऽर्थ एव काव्यस्यात्मा साररूपः तथा हि विश्वस्य प्रथममानवकवेर्महर्षेर्वाल्मीकेः क्रौञ्चयोर्यद् द्वन्द्वं मिथुनं तस्य यो वियोगो व्याधेनैकतरस्य वधेकृते जायमानो विरहस्तस्मादुत्थ उत्पन्नः शोकः स एव श्लोकत्वं प्रथमः काव्योद्भेदरूपः प्रादुरभूत्।५।

अनु०—'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यादि कारिका द्वारा निरूपित प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा अथवा सार है—जैसा कि व्याध द्वारा क्रौञ्च के जोड़े में एक के वध कर देने पर उत्पन्न जो विरह उससे उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का शोक (भाव) ही श्लोक (काव्य) बन गया।

(ध्व०)—विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। तथा चादिकवेर्वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।

शोको हि करुणस्थायिभावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्। ५।

दी० शि० - विविधेन बहुप्रकारेण वाच्यवाचकयोरर्थशब्दयो रचनायाः प्रपञ्चेन विस्तारेण शब्दार्थयोर्गुणालङ्कारयोगेनेत्यर्थः चारुणो मनोरमस्य काव्यस्य स प्रतीयमान एवार्थः सारभूतः प्रधानभूतः। तथा चादिकवेर्वाल्मीकेः—निहता व्याधेन व्यापादिता या सहचरी तस्या विरहेण कातरो यः क्रौञ्चस्तस्य य आक्रन्द उच्चैरारावस्तस्माज्जनितस्तम् आकर्ण्य जनित उद्भूतः (इति ल्यब्लोपे पञ्चमी) जागरितः शोकश्चित्तवृत्तिविशेष एव श्लोकतया काव्यरूपेण परिणतो निःसृतः पर्यवसन्न इत्यर्थः। स च रामायणे प्रसिद्धः श्लोकः —

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति

करुणस्य स्थायीभावः शोको भवति। एवं स शोक एव काव्येऽत्रास्वाद्यमानः करुणरस इत्युच्यते। तेन शोक एव प्रतीयमानरूपो व्यज्यमानः सन् करुणरसो जात इति स्थितम्।

यद्यपि चानेनेतिहासेन केवलस्य रसस्यैवात्मभूतत्वं सिद्धयति न तु वस्त्वलङ्काररूपयोरपि तथापि अत्र प्रतीयमानत्रयमध्ये रसभावरूपस्यैवैतस्य प्राधान्यं वस्त्वलङ्काररूपयो-

स्तु सर्वथा रसादिरूपं प्रत्येव पर्यवसानमिति तेषु भेदेषु प्रधानत्वाद् रसभावरूपस्यैव प्रतीयमानस्य काव्यात्मत्वमुपलक्षितम्। आत्मत्वं तु वस्त्वलङ्कारस्रूपयोरपि प्रतीयमानयोः सुस्थितमेव तयोरपि वाच्यादुत्कृष्टस्वरूपत्वात्।

अनु०—अनेक प्रकार के शब्दार्थरचना-प्रपञ्च से अर्थात् शब्दार्थगुणालङ्कारयोग से मनोरम बने काव्य का वह प्रतीयमान अर्थ ही साररूप है—जैसा कि आदिकवि वाल्मीकि का व्याध द्वारा व्यापादित सहचरी के विरह से कातर क्रौञ्च का जो उच्च आक्रन्द, उसे सुनकर उद्भूत जो शोक वही श्लोक बन गया, अर्थात् काव्यरूप में परिणत हो गया। 'मा निषाद' इत्यादि रामायण-प्रसिद्ध श्लोकरूप में। शोक करुणरस का स्थायीभाव है। इस प्रकार वह शोक ही इस काव्य में आस्वाद्यमान होकर करुणरस कहलाता है। तो शोक ही उद्रिक्त होने पर करुणरस हो गया यह सिद्ध होता है।

यद्यपि इस इतिहास से तो केवल रसादिरूप व्यङ्ग्य की ही आत्मभूतता सिद्ध होती है, न कि वस्त्वलङ्काररूप व्यङ्ग्य की भी, तथापि चूँकि तीनों प्रकार के व्यङ्ग्यों में रसभावरूप की ही प्रधानता होती है, वस्तु-अलङ्कार-रूप व्यङ्ग्यों का तो अन्ततः रसभाव में ही पर्यवसान होता है, अतः उनमें प्रधान होने के कारण रसभावरूप व्यङ्ग्य की ही काव्यात्मता उपलक्षित की गई है। वस्तुतः आत्मता तो वस्तु-अलङ्काररूप व्यङ्ग्यों की भी तय ही है, क्योंकि वाच्य से तो वे दोनों भी उत्कृष्ट ही होते हैं।

(ध्व०)—सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ ६॥

दी० शि०—महतां प्रतिभाधनिकानां कवीनां सरस्वती काव्य-रूपा भारती स्वादु आस्वादयोग्यं तत् प्रतीयमानार्थरूपंवस्तु काव्यतत्त्वं (ध्वनिकारः प्रायः सर्वत्र व्यङ्ग्यमर्थं महताऽऽदरेण वस्तु इति पदेनोल्लिखति) निष्यन्दमाना सहृदयान् प्रति प्रकटयन्ती सती तेषां कवीनाम् अलोकसामान्यं लोकदुर्लभं दिव्यमित्यर्थः, परिस्फुरन्तम् अतिभासमानं प्रतिभाविशेषम् उत्तमकाव्यप्रणयनपटिष्ठनवनवोन्मेषशालिप्रज्ञातिरेकम् अभिव्यनक्ति सूचयतीत्यर्थः।

अनु०—(प्रतिभा के धनिक) महाकवियों की काव्यरूपी भारती आस्वादयोग्य उस प्रतीयमान अर्थरूपी वस्तु को सहृदयों के प्रति प्रकट करती हुई उन कवियों की लोक-दुर्लभ अतिशय भास्वर विशिष्ट प्रतिभा को प्रकट (प्रमाणित) करती है।

(ध्व०)—तत् (द्) वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्र-कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते॥ ६॥

दी० शि०—तद्वस्तुतत्त्वं त्रिविध-प्रतीयमानार्थरूपं वस्तु प्रस्नुवाना महाकवीनां भारती प्रतिभाविशेषं प्रतिभानामापूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा तस्या विशेषः रसावेश-

वैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वमित्यर्थः। येन परिस्फुरत्प्रतिभाविशेषेण हेतुना, अतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि अत्यद्भुतकविपरिपाटीमये संसारे काव्यजगति कालिदासप्रभृतयो द्वौ वा त्रयो वा द्वित्रा इति, पञ्च वा षट् वा पञ्चषा इति गण्यन्ते महाकविव्यपदेशभाजो भवन्ति यथा वक्ष्यते—"व्यङ्ग्य-व्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां न वाच्यवाचकरचनामात्रेण" इति ॥६॥

अनु०—उस वस्तु-तत्त्व अर्थात् तीन प्रकार के प्रतीयमान अर्थतत्त्व को प्रस्तुत करती हुई महाकवियों की सरस्वती उनकी अपूर्ववस्तु-निर्माण करने में समर्थ प्रज्ञा अर्थात् रसावेशपेशलकाव्य-निर्माण-क्षमता को प्रकट करती है, जिसभा-स्वर प्रतिभा-विशेष के कारण अत्यद्भुत कविपरिपाटीमय इस काव्यजगत् में दो-तीन या पाँच छः ही महाकविरूप से गिने जाते हैं—जैसा कि आगे कहेंगे—"इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जक के ही सुप्रयोग द्वारा महाकविवों को महाकविपद प्राप्त होता है, न कि वाच्य-वाचक की रचना मात्र से।" ॥६॥

(**ध्व०**)—इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ ७ ॥

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञै रेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।

दी० शि०—इदं वक्ष्यमाणं भिन्नसामग्रीवेद्यत्वरूपं चापरं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेवेति कारिकायां सूचिताभ्यां स्वरूपविषयाभ्याम् अन्यदित्यर्थः प्रमाणं यथार्थबोधकरणं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावे सत्तायां साधनं सिद्धिकारकमस्तीति शेषः—

शब्दार्थशासनज्ञानं शब्दश्चार्थश्चेतिशब्दार्थौ तयोः शासनं शास्त्रं व्याकरणकोषमीमसादिरूपं तस्य ज्ञानेन ज्ञानमात्रेण स काव्यस्य सारभूतः प्रतीयमानरूपोऽर्थो न वेद्यते नावगम्यते किन्तु केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैः काव्यमर्मज्ञैरेव वेद्यते—तस्माद्वाच्यात् पृथगेवासाविति सिद्धयति। यदि पुनर्वाच्यरूप एवासौ प्रतीयमानोऽर्थः स्यात् तद् वाच्य-वाचक-स्वरूपपरिज्ञानादेव तस्य प्रतीतिः स्यात्। किन्तु केवले वाच्यवाचकशास्त्रे कृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां काव्यमर्मग्रहणसमर्थसंस्काररहितानाम् असहृदयानामित्यर्थः, असौ प्रतीयमानोऽर्थस्तथैवागोचरो बुद्धेरविषय एव भवति यथा गान्धर्वलक्षणं सङ्गीतशास्त्रं विन्दन्ति केवलं सिद्धान्ततो जानन्ति ये तेषाम् अप्रगीतानां नास्ति प्रकृष्टं गीतं गानकर्म येषां, तेषां प्रयोगतः सङ्गीतमनभ्यस्यतां जनानां स्वरश्रुत्यादीनाम् आदि शब्देन जात्यंशकग्रामरागभाषाविभाषान्तरभाषादेशीमार्गा गृह्यन्त इति

तेषां लक्षणं स्वरूपं बुद्धेरविषय एवास्ति। स्वरश्रुत्यादीनां लक्षणं सङ्गीतरत्नाकरादि-ग्रन्थेभ्योऽनुसन्धेयम् ।७।

अनु०—और प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को सिद्ध करने में यह वक्ष्यमाण भिन्न-सामग्रीवेद्यत्व एक अन्य प्रमाण है—

शब्द और अर्थ के शास्त्र (अर्थात् व्याकरण, कोष मीमांसादि रूप) के ज्ञानमात्र से वह काव्य का सारभूत प्रतीयमानरूप अर्थ नहीं जाना जाता, अपितु केवल काव्य-मर्मज्ञों द्वारा ही जाना जाता है (अतएव भी वह प्रतीयमान वाच्य से पृथक् है, यह सिद्ध होता है)। और यदि वह प्रतीयमान अर्थ वाच्यरूप ही होता तो वाच्यवाचक के स्वरूपज्ञान से ही उसकी भी प्रतीति हो जाती। किन्तु (देखा जाता है कि) केवल शब्द एवं अर्थ के शास्त्रों में श्रम करने वाले काव्य-मर्मग्रहण-समर्थ-संस्कार से रहित अर्थात् असहृदयों को यह प्रतीयमान अर्थ उसी प्रकार अगोचर होता है, जिस प्रकार सिद्धान्ततः सङ्गीतशास्त्र को जाननेवाले किन्तु प्रयोगतः सङ्गीत का अभ्यास न किए हुओं के लिए स्वर, श्रुति आदि का स्वरूप होता है ।७।

(ध्व०)—एवं वाच्यव्यतिरेकिणोव्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥८॥

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ। व्यङ्ग्य-व्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण।

दी० शि०—एवं स्वरूपभेदेन, विषयभेदेन, भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन च वाच्याद् व्यतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सत्तां प्रतिपाद्य काव्ये तस्यैव प्राधान्यं न तु वाच्यस्येत्यपि प्रतिपादयति—

स व्यङ्ग्योऽर्थः तस्य या व्यक्तिः प्रकाशनं तत्र यत् सामर्थ्यं व्यापारः व्यञ्जना-व्यापार इत्यर्थः तेन योगः सम्बन्धोऽस्त्यस्येति तादृशः कश्चन व्यञ्जकः शब्दश्चेति तौ शब्दार्थौ, महाकवेरिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, अथवा—महाकविना—यो हि महान् कविरहंभूयासमित्याशास्ते तेन—प्रत्यभिज्ञेयाविति कर्तरि षष्ठी।

न शब्दमात्रम्— 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इति कोषात्कृत्स्नार्थेऽत्र मात्रशब्दः, तेन न सर्वः शब्दः, अपितु केवलं यो व्यञ्जकः स एवेत्यर्थो भवति। प्रत्यभिज्ञेयौ ज्ञातावपि विशेषरूपेण परिचेतव्यौ—"ज्ञातस्यापि विशेषरूपेणानुसन्धानं प्रत्यभिज्ञानम्" इति। एवं पूर्वं वाच्य-वाचकरूपेण ज्ञातयोरपि अर्थशब्दयोरधुना व्यङ्ग्य-व्यञ्जकरूपेण ज्ञानमित्यर्थः। यतः काव्ये व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरेव सुप्रयोगे कृते कविर्महाकविरिति पद-

भाग् भवति न तु केवलवाच्यवाचकरचनानैपुण्येन ! तस्मान्महाकवित्वमाशासानस्य व्यङ्ग्य-व्यञ्जकानुसन्धानमत्यन्तावश्यकमित्याशयः ।८।

अनु०—इस प्रकार स्वरूपभेद से, विषयभेद से तथा भिन्नसामग्रीज्ञेय होने से व्यङ्ग्य की वाच्य से पृथक् सत्ता प्रतिपादित कर काव्य में उसी की प्रधानता भी होती है—वाच्य की नहीं यह भी प्रतिपादित करते हैं : –

"वह व्यङ्ग्य, अर्थ तथा उसको व्यक्त करने के सामर्थ्य से युक्त (अर्थात् व्यञ्जकता से युक्त) जो कोई-कोई शब्द, महाकविके वे शब्द अथवा महाकवि द्वारा वे शब्द पहिचाने जाने चाहिए ।"

न शब्दमात्रं का तात्पर्य है कि सभी शब्द नहीं, अपितु केवल वही, जो व्यञ्जक हो। प्रत्यभिज्ञेयौ का अर्थ है विशिष्टरूप से जानने योग्य। प्रत्यभिज्ञान कहलाता है ज्ञात का भी विशेषरूप से ज्ञान। इस प्रकार पहिले वाच्य-वाचकरूप से जाने गये भी अर्थ एवं शब्द का व्यङ्ग्य-व्यञ्जकरूप से ज्ञान उनका प्रत्यभिज्ञान है।

चूँकि काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक का ही सुप्रयोग करने से कवि महाकवि का पद प्राप्त करता है, न कि केवल वाच्य-वाचक-रचना-नैपुण्य से, अतः महाकवित्व की इच्छा रखनेवाले के लिए (काव्य में) व्यङ्ग्य-व्यञ्जक की खोज अत्यन्त आवश्यक है ।८।

(ध्व०)—इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥९॥

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया। नहि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति। तद्वद्व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनोवाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः।

दी० शि०—साम्प्रतं काव्ये व्यङ्ग्य-व्यञ्जकयोः प्राधान्ये सत्यपि कवयः यद् वाच्यमर्थं वाचकं शब्दमेव गुणालङ्कारादियोगेन चारुस्वरूपं यत् प्रथममुपाददते प्रयुञ्जन्ति तदपि युक्तमुचितमेवेति सनिदर्शनं समर्थयति :—

आलोकः प्रकाशः (अथवा "आलोकनमालोकः वनितावदनारविन्दावलोकनम्"—इति लोचनकाराः) तस्य अर्थी प्रकाशाभिलाषी जनो यथा तदुपायतया तस्य आलोकस्योपायतया साधनत्वेन दीपशिखायां दीपशिखायोजने यत्नवान् सोद्यमोभवति, बिना दीपशिखामालोकस्यासम्भवात्। तद्वत् तस्मिन् व्यङ्ग्यार्थविषय आदृतः सादरो व्यङ्ग्यमर्थं प्रतिपिपादयिषुरित्यर्थः कविः, वाच्येऽर्थे वाच्यार्थयोजनाविषये यत्नवान् भवतीतिशेषः। अनेन विवेचनेन व्यङ्ग्यमर्थं प्रति प्रतिपादकस्य काव्यकर्तुः कवेर्व्यापारः संरम्भो दर्शितः—कविः परमार्थतो व्यङ्ग्यार्थबुबोधयिषयैव सर्वं वाक्यार्थजातं स्वकाव्ये योजयतीत्याशयः ॥९॥

अनु०—अब काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक की प्रधानता रहने पर भी कविगण जो (अलंकृत) वाच्य अर्थ तथा वाचक शब्द ही पहिले प्रयुक्त करते हैं वह भी उचित है। इसका सोदाहरण समर्थन करते हैं :—जिस प्रकार प्रकाशाभिलाषी व्यक्ति उसके उपाय या साधनरूप दीपशिखा की योजना में सयत्न होता है, (क्योंकि बिना दीपशिखा के प्रकाश सम्भव नहीं) उसी प्रकार उस व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति सादर व्यक्ति (कवि) वाच्यार्थ की योजना में सयत्न होता है। (उपेय की प्रधानता रहने पर भी उपाय का कथन पहिले ही होता है और इससे उपेय की प्रधानता में कोई कमी नहीं पड़ती)। यही बात वृत्ति में सुस्पष्ट की गई है।—इस विवेचन से व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति प्रतिपादक कवि का संरम्भ दिखाया गया है—अर्थात् कवि परमार्थतः व्यङ्ग्य अर्थ को सहृदयों के बोध का विषय बनाने की इच्छा से ही अपने काव्य में सब प्रकार से वाच्यार्थों की योजना करता है।९।

(ध्व०)—प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह:—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥१०॥

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्य-स्यार्थस्य प्रतिपत्तिः।

दी० शि०—साम्प्रतं प्रतिपाद्यस्य बोद्धव्यस्य काव्यानुशीलनकर्तुः सहृदयस्ये ,वाच्यःयवा तं व्यङ्ग्योद्देश्यकव्यापारं व्यङ्ग्यार्थविबोधरूपव्यापारप्रकारमित्यर्थः दर्शयितुं सदृष्टान्त-माह—यथा पदार्थद्वारेण पदार्थप्रतीत्यनन्तरं वाक्यार्थः सम्प्रतीयते अवबुद्धयते तद्वत् तस्य वस्तुनो व्यङ्ग्यरूपस्यार्थस्य प्रतिपद् बोधः वाच्यार्थपूर्विका वाच्यार्थप्रतीत्यनन्तरं भवतीति शेषः। यथा वाक्यार्थबोधे पदार्थबोधः कारणं तथैव व्यङ्ग्यार्थबोधे वाच्यार्थ-बोधः कारणं भवतीत्यर्थः। वृत्तावपि एतमेवार्थं विशदयति यथाहीत्यादिना प्रतिपत्ति-रित्यन्तेन।१०।

अनु०—अब प्रतिपाद्य अर्थात् बोद्धव्य (काव्यानुशीलनकर्ता सहृदय अथवा वाच्य) का व्यङ्ग्योद्देश्यक व्यापार दिखलाने के लिए (सदृष्टान्त) कहते हैं—जैसे पदार्थ के बोध होने पर वाक्यार्थ का बोध होता है वैसे ही उस व्यङ्ग्यरूप अर्थ का बोध वाच्यार्थबोध के अनन्तर ही होता है—अर्थात् जैसे वाक्यार्थबोध में पदार्थबोध कारण होता है वैसे ही व्यङ्ग्यार्थबोध में वाच्यार्थबोध कारण बनता है—(अर्थात् सहृदय को व्यङ्ग्य अर्थ के बोध के लिए पहिले वाच्यार्थ का यथार्थ बोध करना ही पड़ता है)। वृत्ति में इसे ही और स्पष्ट किया है।१०।

(ध्व०)—इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन् ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥११॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न भाव्यते विभक्ततया ।

दी० शि०—साम्प्रतं तस्य व्यङ्ग्यस्य प्रतीतेर्वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि व्यङ्ग्यार्थ-बोधात् पूर्वमेव वाच्यार्थबोधे सत्यपीत्यर्थः प्राधान्यं तस्य यथा न व्यालुप्येत व्याहन्येत तथा दर्शयति—

यथा पदार्थः पदस्यार्थः स्वसामर्थ्यम् आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधयः तद्वशेनैव तदधीनतयैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन् बोधयन् व्यापारस्य वाक्यार्थबोधनकार्यस्य निष्पत्तौ पूर्णतायां सिद्धौ सत्यां न विभाव्यते न विभक्ततया प्रतीयते, अपितु वाक्यार्थ एव लीयते ।

एतदेव वृत्तौ विशदयति यथेत्यादिना । तच्च नितरां स्पष्टम् ।११।

अनु०—अब उस व्यङ्ग्य की प्रतीति यद्यपि वाच्यार्थ की प्रतीति के पूर्व होती है तो भी उस व्यङ्ग्य की प्रधानता जैसे नहीं लुप्त होती यह दिखा रहे हैं—जैसे पद का अर्थ अपने सामर्थ्य अर्थात् आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के सहारे वाक्यार्थ की निष्पत्ति करता हुआ उस वाक्यार्थ-बोध कार्य की निष्पत्ति हो जाने पर विभक्तरूप से नहीं प्रतीत होता है, अपितु उसी वाक्यार्थ में लीन हो जाता है—

वृत्ति में इसे ही विशद किया है—जो अत्यन्त स्पष्ट है ।११।

(ध्व०)—तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥१२॥

दी० शि०—तद्वत् पदार्थवाक्यार्थन्यायेनैव प्रतीयमानोऽर्थोऽपि वाच्यार्थविमुखात्मनां वाच्यार्थाद् विमुखश्चमत्कारविरहादपरितुष्यन्नात्मा येषां तेषाम् एवंभूतानां सचेतसां सहृदयानां तत्त्वार्थदर्शिन्यां काव्यमर्मग्राहिण्यां बुद्धौ झटित्येव वाच्यार्थानन्तरमेव वाच्यार्थसमकालमेव अवभासते बोधविषयो भवति ।१२।

अनु०—वैसे (पदार्थवाक्यार्थन्याय से) ही प्रतीयमान अर्थ भी वाच्यार्थ से (चमत्कार रहित होने के कारण) अपरितुष्ट सहृदयकी काव्य-मर्मग्राहिणी बुद्धि में तुरत अवभासित हो उठता है ।१२।

(ध्व०)—एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।

दी० शि०—एवमुक्तरीत्या द्वितीयकारिकातो द्वादशकारिकापर्यन्तं वाच्याद् व्यतिरेकिणो भिन्नस्य व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं सत्तां श्रेष्ठतां च (द्वयमपि विवक्षितम्) प्रतिपाद्य प्रकृते ध्वनिस्वरूपकथने उपयोजयंस्तदुपयोगं कुर्वन्नाह ध्वनिस्वरूपं ब्रूते यत्रार्थ इत्यादि—

यत्र काव्यविशेषे अर्थो वाच्यार्थः, शब्दो वाचकशब्दश्च—स्वशब्द आत्मवाची स्वश्च अर्थश्चेति स्वार्थौ, उपसर्जनीकृतौ अप्रधानीकृतौ स्वार्थौ याभ्यां तौ । यथाक्रमम्—अर्थः अप्रधानीकृतस्वात्मा गुणीकृतस्वरूपोवा, शब्दश्च अप्रधानीकृतस्वाभिधेयः । तमर्थमिति इतःप्राग् द्वितीयकारिकातो द्वादशकारिकां यावत् प्रक्रान्तः द्वादशकारिकायां च "तद्वत् सचेतसां सोऽर्थं" इत्यादिरूपेणोल्लिखितो योऽर्थस्तं प्रतीयमानमर्थमित्यर्थः । (तेन 'किञ्चतमिति तदः पुंस्त्वेन निर्देशोऽनुपपन्नः । तस्यानन्तरप्रक्रान्तार्थपरामर्शिनस्तल्लिङ्ग-तापत्तेः । न चात्र तल्लिङ्गताविशिष्टः कश्चिदर्थः प्रक्रान्तः, वस्तुतो नपुंसकलिङ्गस्यानन्तरं प्रक्रान्तत्वात् ।" इति महिमभट्टस्य दूषणोक्तिरविचारिताभिधानमेव) व्यङ्क्तः द्योतयतः व्यञ्जनया प्रकाशयतः । द्विवचनेन सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोर्ध्वननं व्यापार इति सूच्यते । व्यञ्जनक्रियायां शब्दार्थावुभावपि कर्तृत्वेनान्वितावित्यर्थः । स काव्यविशेषः काव्यं च तद् विशेषश्चेति विशिष्टं काव्यमित्यर्थः । सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः, ध्वनिरिति कथितोऽभिहितः ।

अत्र वेति निपातनं वस्तुतः समुच्चयद्योतकं, विकल्पाभिधानं च तस्य केवलं प्राधा-न्याभिप्रायेण—अर्थस्य प्राधान्येन व्यञ्जकत्वे सति शब्दस्य सहकारित्वं, शब्दस्य च प्राधान्येन व्यञ्जकत्वे सत्यर्थस्य सहकारित्वमिति विकल्पितव्यञ्जनप्राधान्यौ शब्दार्थौ व्यञ्जकाविति सूचयितुमित्यर्थः ।

वृत्तौ काव्यविशेष इति विशेषपदं काव्यस्य शरीरभूतयोः शब्दार्थयोः प्रत्येकं सम्बद्धय व्याख्याति—यत्र काव्यविशेष इत्यर्थः अर्थोवाच्यविशेषः न तु वाच्यमात्रम् एवमेव शब्दो वाचकविशेषः न तु शब्दमात्रम्, यथोक्तं—"तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्चकश्चन, न शब्दमात्रमिति" । अयं भावः—काव्यसामान्ये यावानर्थसहायः शब्द-विशेषरूपः शब्दसहायोवार्थविशेषरूपोंऽशः प्राधान्येन व्यङ्ग्यमर्थं व्यनक्ति सोंऽशो ध्वनिरित्यु-च्यते । स च सर्वस्य तस्य सामान्यकाव्यस्यात्मा भवति । एवं च वर्ण-पद-वाक्य-प्रबन्ध-प्रकृति-प्रत्ययाद्यनन्तभेदभिन्नो ध्वनिः काव्य-विशेषरूपः सन् काव्यसामान्ये स्वोपस्थितया जीवितसञ्चारमिव कुर्वन् तत्रात्मपदवीं धारयति । यथा 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि-काव्ये 'अधम' पदरूपेण स्थितो ध्वनिः सम्पूर्णस्यास्य आत्मा साररूपो भवति । सम्पूर्णं चैतत् काव्यं ध्वनिरूपेण परिणमयति - यथा आत्मा तथा शरीरम् इति न्यायेनेत्यर्थः ।

अनु०—इस तरह (द्वितीय कारिका से द्वादश कारिका पर्यन्त) वाच्य से भिन्न (भिन्न स्वरूपवाले) व्यङ्ग्य अर्थ की सत्ता एवं श्रेष्ठता (दोनों) प्रतिपादित कर उसका प्रकृत प्रसंग में अर्थात् ध्वनिस्वरूपकथन में उपयोग करते हुए (ध्वनिस्वरूप) कहते हैं—

जिस काव्यविशेष में वाच्य अर्थ अपने स्व अर्थात् स्वरूप को एवं वाचकशब्द अपने वाच्य अर्थ को अप्रधान बनाकर उस (प्रतीयमान) अर्थ को व्यक्त (व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित) करते हैं उस विशिष्ट काव्य को काव्यतत्त्वार्थदर्शी सूरियों ने ध्वनि कहा है।

वृत्ति में 'काव्यविशेष' इसमें उक्त 'विशेष' पद को काव्य के शरीरभूत जो शब्द और अर्थ उनमें प्रत्येक के साथ सम्बद्ध करते हुए व्याख्या करते हैं—

जिस काव्य-विशेष में अर्थ अर्थात् वाच्य-विशेष न कि सभी वाच्य अर्थ। इसी प्रकार वाचक विशेष अर्थात् शब्दविशेष ही न कि शब्दमात्र—जैसा कि कहा है— "तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन न शब्दमात्रम्।"

तात्पर्य यह है कि काव्यसामान्य में जितना वाच्यार्थ की सहायता से युक्त शब्दविशेषरूप अथवा शब्द की सहायता से युक्त अर्थविशेषरूप अंश प्रधानरूप से व्यङ्ग्य अंश को व्यक्त करता है उतना अंश ध्वनि कहलाता है। और वह ध्वनि अंश उस पूरे उतने सामान्य काव्य की आत्मा होता है—अर्थात् वर्ण, पद, वाक्य, प्रबन्ध, प्रकृति, प्रत्यय आदि अनन्त प्रकार वाला काव्यविशेषरूप ध्वनि काव्यसामान्य में विद्यमान रहने पर उसमें जीवन सञ्चार-सा करता हुआ उसकी आत्मा होने की पदवी प्राप्त करता है—जैसे 'निःशेष च्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यादि काव्य में 'अधम' पद रूपसे स्थित (पद-) ध्वनि इस सम्पूर्ण काव्य (श्लोक) की आत्मा है—और इस सम्पूर्ण श्लोक-काव्य को ध्वनिरूप काव्य में परिणत कर देता है—जैसी आत्मा वैसी देह।

(ध्व०)—अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्। यदप्युक्तम्—'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो-मार्गस्य काव्यत्वहाने र्ध्वनिर्नास्ति' इति तदप्ययुक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्य-तत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्र मेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः। यदप्युक्तम्—'कामनीयकमनति-वर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः' इति, तदप्यसमीचीनम्, वाच्य-वाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

परिकर श्लोकश्चात्र :—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः॥

दी० शि०—अनेन शब्दार्थयोर्गुणीभावकथनेन व्यङ्ग्यार्थव्यञ्जनकथनेन च वाच्यस्य ये चारुत्वहेतव उपमाद्यर्थालङ्कारा: (अर्थगुणाश्च), वाचकस्य च ये चारुत्व-हेतवोऽनुप्रासादिशब्दालङ्काराश्च (शब्दगुणाश्चापि) तेभ्यो ध्वनेर्विषयो विभक्तो भिन्न एव—ध्वनिस्तु वाच्यवाचकौ गुणीकृत्य व्यङ्ग्यं चार्थं प्रधानीकृत्य व्यवस्थीयते उपमानु-प्रासाद्यलङ्कारादय: पुन: वाच्यवाचकावेवाश्रित्य तावेव प्रधानीकृत्येत्यर्थ: तिष्ठन्ति (गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वाद् अस्य च तदन्यव्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-सारत्वान्नास्य तेष्वन्तर्भाव:—इति लोचनकारा:) । एवं 'तद्व्यतिरिक्त: कोऽयं ध्वनि-र्नामेति प्रथममभाववादिमतं निराकृतम् । द्वितीयमपि अभाववादमतं निरस्यति—यदप्युक्त-मित्यादिना—तदप्ययुक्तमसमीचीनम्—यतो लक्षणकृतां काव्यलक्षणविधायिनां काव्य-शास्त्रकाराणामेव केवलं स ध्वनि: न प्रसिद्ध: न ज्ञात:, लक्ष्ये रामायणमहाभारतादि-काव्यरूपे तु परीक्ष्यमाणे सति स ध्वनिरेव तत्र वस्तुत: सहृदयाह्लादकं काव्यतत्त्वं काव्यत्वमित्यर्थ: । ततस्तस्माद् ध्वनेरन्यद् यत् तत् काव्यमेव न भवति, अपितु तच्चित्र मुच्यत इत्यग्रे तृतीयोद्योते दर्शयिष्यते—यथा—"प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते: । उभे काव्ये ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ।" इति ।

अथ तृतीयमपि अभाववादं खण्डयति यदप्युक्तं कामनीयकमित्यादिना – वाच्यमर्थमेव वाचकशब्दमेव चाश्रित्य विद्यमानेऽलङ्कारादिरूपे प्रस्थाने मार्गे केवलं व्यङ्ग्यमर्थं व्यञ्जकं शब्दं चाश्रित्य व्यवस्थितो ध्वनि: कथमपि नान्तर्भवितुमर्हति, भिन्नाश्रयत्वात् । पुनश्च येऽप्येते वाच्यवाचकचारुत्वहेतवोऽलङ्कारादय: प्रसिद्धा: ते खलु तस्य ध्वने: काव्यस्याङ्गभूता अवयवरूपा उपकारका न तु तदेकरूपा ध्वनिसरूपा एवेति स ध्वनिस्तु अङ्गिरूपोऽवयविरूप एवेति प्रतिपादयिष्यते । अत्र अस्मिन् विषये परिकरश्लोकश्च - - परिकरोति प्रकृतमर्थमधिकाधानेनोपकरोतीति परिकर: स श्लोक:—"व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-सम्बन्धेन निबन्धनं व्यवस्थितिर्यस्य तादृशस्य ध्वने: ध्वनिकाव्यस्य वाच्यवाचकचारुत्व-हेतुषु अलङ्कारादिषु कुत: कथङ्कारम् अन्त:पातिताऽन्तर्भाव: स्यादिति शेष: ।"

अनु०—यहाँ इस शब्दार्थ के अप्रधान-कथन द्वारा तथा व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जन-कथन द्वारा वाच्यवाचक की चारुता के हेतु उपमानुप्रासादि अलङ्कारों से (तथा वामन के अर्थगुणों एवं शब्दगुणों से भी) ध्वनि का क्षेत्र पृथक् ही सिद्ध होता है—क्योंकि ध्वनि तो वाच्य-वाचक को अप्रधान बनाकर व्यङ्ग्य को प्रधान कर स्थित होता है, जब कि उपमानुप्रासादि अलंकार वाच्य-वाचक को ही प्रधान बनाकर रहते हैं । इस प्रकार 'तद्व्यतिरिक्त: कोऽयं ध्वनिर्नाम' आदि प्रथम अभाववादियों के मत का खण्डन किया ।

दूसरे भी अभाववादमत का निराकरण करते हैं—और जो 'प्रसिद्ध प्रस्थानाति-क्रमिण' आदि कहा है वह भी अनुचित है, क्योंकि वह ध्वनि केवल काव्यशास्त्रकारों को ही अज्ञात रहा है, लक्ष्यग्रन्थ (रामायणमहाभारत आदि) की परीक्षा करने पर तो

वह ध्वनि ही वास्तव में वहाँ पर सहृदयहृदयाह्लादक काव्यतत्त्व या काव्यत्व मिलता है। उस ध्वनि से जो पृथक् है वह तो काव्य ही नहीं है—उसे चित्र कहते हैं। यह आगे (तृतीय उद्योत में) दिखाएँगे प्रधानगुणभावाभ्यामित्यादि द्वारा।

अब तृतीय अभाववाद का भी खण्डन करते हैं—केवल वाच्य अर्थ एवं वाचक शब्द के आश्रय से विद्यमान अलङ्कारादिरूप मार्ग में केवल व्यङ्ग्य अर्थ तथा व्यञ्जक शब्द के आश्रय से व्यवस्थित ध्वनि कथमपि अन्तर्भूत नहीं हो सकत। क्योंकि दोनों के आश्रय भिन्न हैं। और फिर, जो वाच्य एवं वाचक की चारुता के हेतु ये अलङ्कारादि प्रसिद्ध हैं वे तो उस ध्वनिकाव्य के अङ्गभूत हैं, उसके अवयव हैं—उपकारक हैं उसी के सरूप नहीं हैं। वह ध्वनि तो अवयवी अथवा अङ्गी है—यह आगे कहेंगे। इस विषय का परिकर श्लोक है—"जिसकी व्यवस्था व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध से होती है उस ध्वनि का अन्तर्भाव वाच्य-वाचक की चारुता के कारणभूत अलङ्कारादिकों में कैसे हो सकती है ?"

(ध्व०)—ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम माभूद् ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा—समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र, ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति। अर्थो गुणीकृतात्मा गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति।

दी० शि०—तत्र शङ्का स्याद्-यत्र हि उपमानुप्रासाद्यलङ्कारेषु प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्यार्थस्य वैशद्येन स्फुटतया प्रतीतिर्नास्ति सोऽलङ्कारविशेषोनाम ध्वनेर्विषयो ध्वनिरूपो मा भूत् किन्तु येषु समासोक्त्यादिषु व्यङ्ग्यस्य स्फुटतया प्रतीतिरस्ति तेषु ध्वनेरन्तर्भावस्तु दुर्वार एवेत्यत एतन्निराकरणाय ध्वनिलक्षण उक्तम्—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति—यत्र काव्ये अर्थो गुणीकृतः अप्रधानीकृत आत्मा स्वरूपं येन स तथाभूतः (आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यातः—इति लोचनकाराः)—प्रायः स्वरूपार्थे स्वभावार्थे वा ध्वनिकारेणायमात्मशब्दः प्रयुक्तः। शब्दश्च गुणीकृतोऽभिधेयो वाच्यार्थो येन स एवंभूतः सन् अर्थान्तरम् अन्यं व्यङ्ग्यरूपमितितात्पर्यम् अर्थात् अभिव्यनक्ति स ध्वनिरित्युच्यते। तदेवंभूतस्य ध्वनेः समासोक्त्यादिषु कथंकारमन्तर्भावः स्यात्। नहि व्यङ्ग्यप्राधान्यमन्तरेण ध्वनिः।

अनु०—इस पर शङ्का हो सकती है कि—जहाँ उपमानुप्रासादि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य अर्थ की स्फुटरूप से प्रतीति नहीं है, वह अलङ्कारविशेष भले ही ध्वनिरूप न हो, किन्तु जिन समासोक्ति आदि में व्यङ्ग्य अर्थ की स्फुट प्रतीति है, उनमें तो ध्वनि का अन्तर्भाव दुर्वार हो जायगा। अतः ऐसी शङ्का के निराकरण के लिए ही पूर्वोक्त ध्वनि लक्षण में 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' यह विशेषणपद रखा है, जिसका आशय यह

है कि—जिस काव्य में (वाच्य) अर्थ अपने स्वरूप को अप्रधान कर तथा (वाचक) शब्द अपने (वाच्य) अर्थ को अप्रधान कर अन्य अर्थ अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हों वह काव्य ध्वनि कहलाता है। तो ऐसे ध्वनि का समासोक्ति आदि में कैसे अन्तर्भाव हो सकता है—क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता रहने पर ही वह काव्य ध्वनि कहलाता है। समासोक्ति आदि में व्यङ्ग्य अर्थ के रहने पर भी उसकी प्रधानता नहीं होती—वहाँ वह वाच्य अर्थ का उपस्कारक होने के कारण अप्रधान होता है। व्यङ्ग्य की प्रधानता के बिना ध्वनि हो ही नहीं सकता।

(ध्व०)—समासोक्तौ तावत्—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्।

दी० शि०—समासोक्तावेव प्रथमम्—(निशापक्षे) उपोढो धृतो रागः सन्ध्यारुणिमा येन स उपोढरागस्तेन शशिना चन्द्रमसा विलोला अस्थिरं भासमानास्तारका नक्षत्राणि यत्र तादृशं निशाया मुखं प्रदोषवेलारूपं तथा तेन प्रकारेण द्रुतमित्यर्थः गृहीतम् उद्दीपितं यथा पुरोऽपि प्राच्यामपि रागाद् उदयारुण्याद् गलितं विनष्टं समस्तमखिलं तिमिरांशुकं तमः पटलं (तया निशया अथवा जनैः) न लक्षितं नावलोकितम्।

(नायिका पक्षे) उपोढो रागः प्रेम येन तेन नायकेन विलोलाः प्रियालोकनविभ्रमेण चञ्चलास्तारकाः कनीनिका यत्र तादृशं नायिकाया मुखम् आननं तथा गृहीतं चुम्बितुमात्तं यथा पुरोऽपि पुरस्तादपि रागात् प्रेमोद्रेकाद् गलितं पतितं समस्तमखिलं तिमिरांशुकं नीलजालिका (नवोढाप्रौढवधूचिता—इति लोचनकाराः) तया नायिकया न लक्षितम्।

अत्र व्यङ्ग्येन वस्तुना (नायकनायिकाव्यवहाररूपेण) अनुगतं संगतं सद् वाच्यमेव वस्तु (निशाशशिवर्णनरूपम्) प्राधान्यमासादयति तथाहि—अत्र नायिकानायकव्यवहारो व्यङ्ग्यः, वाच्यं च शृङ्गारविभावरूपं निशाशशिवर्णनम्। व्यङ्ग्यो यो नायिकानायक-व्यवहारः स वाच्यं निशाशशिवर्णनं संस्कुरुते—अतस्तस्य अलङ्कारतां भजते। ततो विशिष्टतया शोभमानाद् विभावीभूताद् वाच्याद् रसनिःष्यन्दः (शृंगाररसप्रतीतिः)। तदेवाह वृत्तौ समारोपितेत्यादिना—निशाशशिनावेवात्र वाक्यार्थरूपौ, तयोरेव वर्णनमभिमितम्। तदेव प्रधानम्। नायिकानायकव्यवहारस्तु तत्रारोप्यते केवलं वाक्यालङ्करणाय।

अनु०—पहिले समासोक्ति में ही जैसे—

(निशापक्ष में)—जिसने सन्ध्या का अरुणराग धारण कर रक्खा है ऐसे चन्द्रमा ने जिसमें चञ्चल तारे झिलमिला रहे हैं ऐसे प्रदोष समय को ऐसा द्रुतरूप से उद्दीपित

किया कि प्राची में भी उदय की अरुणाई से विनष्ट समस्त तमःपटल रात्रि लक्षित न हो सका।

(नायिका पक्ष में)—प्रवृद्धानुराग नायक ने चञ्चल नयन-तारावाले नायिका के मुख को (चूमने के लिएं) ऐसे पकड़ा कि वह प्रेमोद्रेक के कारण सामने ही गिरा अपना नीला दुपट्टा न जान पाई।

यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ से सङ्गत वाच्य ही अर्थ प्रधानता प्राप्त करता है। वह ऐसे कि—यहाँ नायिका-नायक-व्यवहार व्यङ्ग्य है और वाच्य है शृङ्गारविभावरूप निशाशशि का वर्णन। व्यङ्ग्यरूप नायिका-नायक-व्यवहार वाच्यरूप निशाशशि के वर्णन का उपस्कार करता है—अतः उसका अलङ्कार बनता है। उस विशिष्ट शोभा पाते हुए विभावरूप वाच्यार्थ से रसनिःष्यन्द अर्थात् शृंगार रस की प्रतीति हो रही है। यही बात वृत्ति में कहते हैं—यहाँ निशाशशी ही वाक्यार्थरूप हैं—अर्थात् उन्हीं का वर्णन अभिमत है। नायिका-नायक-व्यवहार तो यहाँ आरोपित किया जाता है—वाच्यार्थ के अलङ्करण के लिए।

(ध्व०)—आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि—तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्। चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा—

यथा—अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा।

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्।

दी० शि०—आक्षेपालङ्कारेऽपि वक्तुमिष्टस्य वाच्यरूपतां निषिध्य व्यङ्ग्यरूपता स्वीक्रियते तथापि चारुत्वं (प्राधान्यम्) व्यङ्ग्याक्षेपरूपस्य (विवक्षितनिषेधरूपस्य) वाच्यस्यैव—अतएव वाक्यार्थोऽपि प्राधान्येनाक्षेपोक्तिरूपवाच्यार्थसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि प्रतिपादने वैशिष्ट्याधानाय शब्दम् उपारूढो वाच्यरूपेण शब्देस्थितः प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् प्रतिषिद्धमेवार्थं व्यङ्ग्यरूपेण अध्याहरन् मुख्यं प्रधानं शरीरमस्तीति शेषः, तत्र काव्ये प्राधान्यं तावद् निषेधरूपे वाच्य एव न तु व्यङ्ग्ये तिष्ठतीत्यर्थः। यतो वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य वा प्राधान्यप्रतिपादनं चारुत्वाधिक्याश्रयमेव। यदा वाच्ये चारुत्वमधिकं तदा वाच्यस्य यदा चव्यङ्ग्ये चारुत्वमधिकं तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं विवक्षितं भवतीत्यर्थः। तत्रोदाहरणम् अनुरागवतीत्यादि—'यद्यपि सन्ध्या अनुरागवती लौहित्यभाग् दिवसश्च तस्याः पुरस्सरोऽग्रगामी अस्तीतिशेषः। अहो

आश्चर्यं कीदृग् विलक्षणा दैवस्य विधेर्गतिर्यत् तथापि तयोः समागमः सम्मेलनं न भवतीत्यर्थः।

अत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः प्रस्तुते (सन्ध्यादिवसरूपे) वस्तुनि अप्रस्तुतनायिका-नायकव्यवहारस्यारोपः अयमेवोपमानस्य सामर्थ्यादारोप आकर्षणं व्यञ्जनं वा। नायकपक्षे चार्थः स्पष्ट एव। अत्रहि नायकरूपव्यङ्ग्यापेक्षयाऽऽरोपिततद्वृत्तसन्ध्या-दिवसात्मकवाच्यस्यैव चारुत्वम्। अतोव्यङ्ग्यार्थे सत्यपि वाच्यस्यैव प्राधान्यम्।

अत्र हि वामनकृतम् 'उपमानाक्षेपः' इत्युपमानस्याक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम् इत्येवमभि-प्रायकं यदाक्षेपस्य लक्षणं तदनुसृत्यैवैतदुदाहरणं दत्तम्। भामहलक्षणेन तु इयमपि समासोक्तिरेव स्यात्।

व्यपदेशोऽपि च प्राधान्यकृत एव भवतीतित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथाचेत्यादि—यथा दीपकेऽपह्नुतौ च उपमाया उपमानोपमेयभावस्य व्यङ्ग्यत्वेन प्रतीतौ बोधेऽपि तत्र चारुता वाच्यरूपदीपनकृतैव वाच्यरूपापह्नुतिकृतैव च तिष्ठति तेन प्राधान्यमपि तयोरेव, अभिधानं चापि वाच्यरूपाभ्यां दीपकापहनुतिभ्यामेव तथैवात्राक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यार्थ-सत्त्वेऽपि वाच्यस्य चारुत्वाद् व्यपदेशोऽपि वाच्येनैवेतिभावः।

(अनु०)—आक्षेप अलंकार में भी (यद्यपि विवक्षित में वैशिष्ट्य उत्पन्न करने के लिए उसको वाच्यरूपता का निषेध कर व्यङ्ग्यता स्वीकृत की जाती है तथापि) चारुता (प्रधानता) उस व्यङ्ग्य के आक्षेप (निषेधरूप) वाच्य की ही होती है। अतएव वाक्यार्थ भी प्रधानतया आक्षेप (निषेध) रूप वाच्यार्थ सामर्थ्य से ही जाना जाता है। तो इस प्रकार प्रतिपादन में वैशिष्ट्य लाने के लिए वाच्यरूप से स्थित जो प्रतिषेधरूप आक्षेप वही प्रतिषिद्ध अर्थ को व्यङ्ग्यरूप से अध्याहृत करता हुआ समग्र काव्य का प्रधान शरीर बनता है। अर्थात् प्राधान्य निषेधरूप वाच्य में रहता है न कि व्यङ्ग्य में। क्योंकि वाच्य अथवा व्यङ्ग्य की प्रधानता का उल्लेख उनके चारुताधिक्य की दृष्टि से ही होगा—अर्थात् जब वाच्य में अधिक चारुता होगी तो वाच्य की प्रधानता विवक्षित होगी और जब व्यङ्ग्य में अधिक चारुता होगी तो व्यङ्ग्य की—जैसे—"यद्यपि सन्ध्या अनुरागवती (ललाईभरी) है और दिवस उसके आगे ही है, आश्चर्य है कि कैसी विचित्र विधिविडम्बना है कि फिर भी मिलन नहीं हो पा रहा है।" यहाँ कार्यलिङ्ग तथा विशेषणों द्वारा सन्ध्या-दिवस-रूप प्रस्तुत विषय पर अप्रस्तुत नायिका-नायक व्यवहार का आरोप हो रहा है। यही उपमान का सामर्थ्य से आरोप या आक्षेप या व्यञ्जन है। नायक पक्ष में तो अर्थ स्पष्ट ही है। यहाँ नायिका-नायक-रूप व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा उनके व्यवहार का जिन पर आरोप किया गया है ऐसे सन्ध्यादिवस-रूप वाच्यार्थ में चारुता है। अतः व्यङ्ग्य अर्थ के रहने पर भी प्रधानता वाच्य की ही है।

यहाँ पर वामन के 'उपमानाक्षेपः' (वा० सू० ४।३।२७) अर्थात् 'सामर्थ्य से

उपमान का आक्षेप या आकर्षण कर लेना' इस लक्षणवाले आक्षेप के अनुसार उदाहरण दिया गया है। भामह के लक्षण के अनुसार तो यहाँ समासोक्ति ही होगी। अस्तु।

और, नाम भी प्राधान्य की दृष्टि से ही रखा जाता है। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—जैसे दीपक तथा अपह्नुति में यद्यपि उपमा (उपमानोपमेयभाव) की व्यङ्ग्य-रूप से प्रतीति होती है फिर भी उनमें वाच्यरूप दीपन तथा वाच्यरूप अपह्नव से ही चारुता की जाती है, अतः प्रधानता उन्हीं दीपन तथा अपह्नवन की ही रहती है और नामकरण भी उन वाच्यरूप दीपन तथा अपह्नुति से किया जाता है, उसी प्रकार इस आक्षेप में भी व्यङ्ग्य के रहने पर भी वाच्य के ही चारु होने के कारण नाम भी इसका वाच्य वाला (आक्षेप) ही होगा।

(ध्व०)—अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैः ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात्प्रतीतिमात्रम्। न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम्।

(दी० शि०)—अथ विशेषोक्तावपि व्यङ्ग्यस्याप्राधान्यं दर्शयति। तत्र विशेषोक्तेरुक्त-निमित्ताचिन्त्यनिमित्ताख्यभेदद्वयेऽपि व्यङ्ग्यस्यासत्त्वाद्यत् तदवधीर्य तृतीयं भेदमालोचयति-अनुक्तनिमित्तायामिति-तत्रोदाहरणम् आहूतोऽपीत्यादि-सह गन्तुं सहायैःसहचरैराहूत आकारितोऽपि ओमित्युक्त्वा तेषामाकारणां स्वीकृत्य विमुक्तनिद्रस्त्यक्तनिद्रोऽपि तथा गन्तुमना अपि (गृहं) प्रस्थातुकामोऽपि पथिकः प्रवासी विरही सङ्कोचं नेत्रगात्राकुञ्चनं नैव शिथिलयति अपनयति।

अत्र हेतूनां सत्त्वेऽपि सङ्कोचशिथिलीकरणरूपकार्यस्याभावो वाच्यरूपेणोक्तः, तस्य निमित्तं पुनः शीतकृतार्तिर्वास्यात् स्वप्ने कान्तासमागमोवा स्यात्. तत्सर्वथा व्यङ्ग्यमेव। किन्तु तद्व्यङ्ग्यप्रतीतौ न काचिच्चारुता अपितु न शिथिलयतीत्येवंभूते विशेषोक्तिभाग एव व्यङ्ग्यनिमित्तोपस्कृते। अतस्तस्यैव प्राधान्यमपि, न तु व्यङ्ग्यरूपस्य निमित्तस्य किञ्चित्।

(अनु०)—अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी—

"(साथ चलने के लिए) साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, 'हाँ' कहकर जगकर भी, और जाने की इच्छा रखते हुए भी पथिक (परदेशी) शरीरसंकोच नहीं छोड़ रहा है (सिकुड़ा पड़ा है।)" इत्यादि उदाहरण में प्रकरणवश व्यङ्ग्य की प्रतीतिमात्र होती है। किन्तु उस प्रतीति के कारण कोई चारुता की सिद्धि नहीं होती, अतः उसका प्राधान्य नहीं है।

(ध्व०)—पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद्भवतुनाम तस्य ध्वनान्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गि-

त्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृत-सदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।

(दी० शि०)—पर्यायोक्तालङ्कारेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं व्यज्यमानस्यार्थस्य प्राधान्यं स्यादित्यर्थः तदा तस्य ध्वनिरूपत्वाद् ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः-न तु तावन्मात्र एव ध्वनिरित्यर्थः। यतो ध्वनिर्महाविषयः विविधरूपः असीमक्षेत्रः, अङ्गी अवयववान् काव्यविशेषरूप इत्यर्थः। अलङ्कारादयस्त्विमे तस्याङ्गविशेषरूपा एवेत्यग्रे प्रतिपादयिष्यते। किन्तु भामहेन यत् पर्यायोक्तमुदाहृतं—

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।

विप्रा न भुञ्जते॥ इति तत्र 'तच्च रसदाननिवृत्तये' इति व्यङ्ग्यस्य न किञ्चिच्चारुत्व मस्तीति न तस्य प्राधान्यम्। एवं तदनुसारितया तत्सदृशं यदुदाहरणान्तरमपि कल्प्यते तत्रापि नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं यतो वाच्यस्य तत्र नोपसर्जनीभावोविवक्षितः, प्रत्युत तत्र वाच्य एव प्राधान्यं भजते।

(अनु०)—पर्यायोक्त अलङ्कार में भी यदि व्यज्यमान अर्थ की प्रधानता रहे तो वह ध्वनिरूप होगा और उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायगा, न कि ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव होगा—क्योंकि ध्वनि विशाल क्षेत्र (अथवा विविधरूप) वाला एवं अङ्गी अर्थात् अवयवों से युक्त अथवा काव्यविशेषरूप है। ये अलङ्कारादि तो उसके अङ्ग-विशेषरूप ही हैं—यह आगे बताएँगे। किन्तु भामह ने तो जैसा पर्यायोक्त का उदाहरण दिया है—"घरों या मार्गों में हम वह अन्न नहीं खाते, जो अधीती ब्राह्मण नहीं खा लेते।" यहाँ भगवान् के इस वचन का व्यङ्ग्य है कि जिससे रस-दान न हो सके, अर्थात् कोई हमें विषरस न दे सके। (किन्तु यह व्यङ्ग्य 'तच्च रसदान-निवृत्तये' इस चतुर्थ पादरूपी उक्ति से वाच्यरूप से कह भी दिया जाता है।) इसके व्यङ्ग्य में कोई चारुता नहीं है। अतः उसकी प्रधानता नहीं है। इसी प्रकार तत्सदृश जो अन्य उदाहरण भी कल्पित किया जाय तो उसमें भी व्यङ्ग्य की प्रधानता न होगी, क्योंकि वहाँ वाच्य की गौणता विवक्षित नहीं होती (प्रत्युत वाच्य ही अपनी प्रधानता रखता है)।

(ध्व०)—अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव।

(दी० शि०)—अपह्नुतिदीपकनाम्नोरलङ्कारयोस्तु वाच्योऽर्थ एव प्रधानो, व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरुपमारूपो वाच्यस्यैवानुयायी उपकारक इति तत् प्रसिद्धमेव प्रामाणिकमेव किञ्चित् पूर्वमिहैव प्रसाधितमेवेतिवा।

(अनु०)—अपह्नुति, दीपक अलंकारों में तो वाच्य अर्थ ही प्रधान होता है और उपमारूप व्यङ्ग्य अर्थ का ही अनुयायी या उपकारक होता है, यह प्रसिद्ध ही है (अथवा यह अभी सिद्ध कर चुके ही हैं)।

(ध्व०)—सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्। अलङ्कारद्वयसम्भावनायांतु वाच्यव्यङ्ग्योः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्, पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात्। अपिच सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति।

(दी० शि०)—सङ्करालङ्कारस्य प्रकारविशेषे यदैकोऽलङ्कारोऽन्यस्यालङ्कारस्यच्छायां कान्ति शोभांवाऽनुगृह्णाति वर्धयति तदा व्यङ्ग्यस्य अनुग्राहकस्यालङ्कारस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वाद् उपसर्जनीभावात् तादृशे संकरे न ध्वनित्वम्। अन्यस्मिन्नपि सङ्करभेदे ध्वनेर्विषयत्वं निरस्यति अलङ्कारद्वयसम्भावनायामिति—यत्रद्वयोरलङ्कारयोः (बहूनां वाऽलङ्काराणाम् एकतर-परिग्रहे साधकबाधकप्रमाणाभावात् सन्देहरूपः सङ्करः तत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य चालङ्कारस्य तुल्यं प्राधान्यम् इति द्वयोरान्दोल्यमानत्वान्न तत्रापि ध्वनित्वम्।

ननु यत्र सङ्करे व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम्—यथा—

'होइ ण वा गुणाणुराओ खलाणं णवरं पसिद्धिसरणाणं।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे ण पिआमुहे दिट्ठे॥

(भवति न गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्।
किल प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे॥ इतिच्छाया)

इत्यत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेण 'अथ वाच्योपसर्जनीभावानेत्याद्याशङ्क्य समादधाति—तदा सोऽपीत्यादि—ध्वनिविषयः ध्वनावन्तर्भूतोऽस्तु—तदातु सङ्करालङ्कार एवायं न भवति, अपितु ध्वनेरेव भेदविशेषः। न चपुनरयमेवध्वनिरित्यपि मन्तव्यं ध्वनेर्महाविषयत्वादङ्गित्वाच्च—यथा हि प्राक् पर्यायोक्तप्रसङ्गे प्रतिपादितम्।

किं च सङ्करालङ्कारस्य सङ्करतैव तत्र ध्वनिशङ्कां निरस्यति यतो नीरक्षीरवदलङ्कारमिश्रणे हि सङ्करः, न चैवंविधेमिश्रणे कस्यचित् प्राधान्यमपरस्य गुणत्वं वा शक्यमवगन्तुम्। व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु ध्वनिः। कथमसौ तादृशे सङ्करे सम्भवेत्। अत एवाह—अपिचेत्यादि—क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे सङ्करस्य सर्वेष्वपिप्रभेदेष्वित्यर्थः सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति दूरं निरस्यति।

(अनु०)—सङ्करालङ्कार में भी जहाँ एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की कान्ति को अनुगृहीत (पुष्ट) करता है, वहाँ व्यङ्ग्य के प्रधानरूप से विवक्षित न होने के कारण ध्वनि की विषयता (क्षेत्र) नहीं होती। दो अलङ्कारों की सम्भावना (सन्देहसङ्कर) में तो वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों की तुल्य प्रधानता होती है। किन्तु यदि वहाँ वाच्य के गौण रहने के साथ व्यङ्ग्य की व्यवस्था हो तो वह भी ध्वनि का विषय हो सकता है—

न कि केवल वही (उतना ही) ध्वनि कहा जा सकता है—पर्यायोक्त के प्रसङ्ग में उल्लिखित सिद्धान्त के ही अनुसार। और (एक बात) यह भी कि सङ्करालङ्कार में कहींभी (सर्वत्र) सङ्कर यह वचन (विशेषण) ही ध्वनि सम्भावना का निराकरण कर देता है।

(ध्व०)—अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्ति-भावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाभिधी-यमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीय-मानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौसत्यामपि प्राधान्येन, तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेष-स्यापि प्राधान्यम्। निमित्तनिमित्तिभावे चायमेवन्यायः। यदा तु सारूप्यमात्रव-शेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीय-मानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव।

(दी० शि०)—अप्रस्तुतस्य अप्राकरणिकस्य प्रशंसा वाच्यरूपेण वर्णनं प्रस्तुतस्य प्राकरणिकस्य च व्यङ्ग्यता यत्र सोऽयमलङ्कारः। तत्र च प्रस्तुताप्रस्तुतयोः सम्बन्ध-स्त्रिविधो भवति—सामान्यविशेषरूपः, निमित्त-निमित्तिरूपः, सरूपलक्षणश्च। तत्र प्रथमे प्रकारद्वये यदा वाच्यरूपस्याप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यरूपेण प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धोभवति तदा वाच्यव्यङ्ग्ययोस्तुल्यमेव प्राधान्यम्! तथाहि—सामान्यविशेषभावे द्वयी गतिः—कदाचित् अप्रस्तुतं सामान्यं वाच्यरूपं भवति, व्यङ्ग्यरूपश्च प्रस्तुतो विशेषः। तत्र तु विशेषस्य प्राधान्येन प्रतीतावपि सामान्यस्यापि विशेषेण सह अविनाभावसम्बन्धात् प्राधान्यम्। कदाचिच्च तत्र विशेषः अप्रस्तुतः वाच्यरूपः सामान्यं प्रस्तुतं तु व्यङ्ग्यरूपं भवति—तत्रापि सामान्यस्य प्राधान्येन प्रतीतावपि सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद् विशेषस्यापि प्राधान्यम्।

निमित्तनिमित्तिभावेऽपि चायमेव सिद्धान्तः। तत्र कदाचिन्निमित्तम् अप्रस्तुतं वाच्यं भवति तेन च नैमित्तिकं प्रस्तुतं व्यज्यते। तदा च व्यङ्ग्यं नैमित्तिकमिव तद्व्यञ्जकं वाच्यरूपं निमित्तमपि अनुप्राणकत्वेन प्रधानीभवतीत्युभयोः समं प्राधान्यम्। कदाचिच्च नैमित्तिकमप्रस्तुतं वाच्यं भवति तेन च निमित्तं प्रस्तुतं व्यज्यते। अत्रापि च व्यङ्ग्यं निमित्तमिव तद्व्यञ्जकं वाच्यरूपमपि नैमित्तिकं तदनुप्राणितत्वेन आत्मानं प्रधानीकरो-तीत्युभयोः समं प्राधान्यम्।

वस्तुतस्तु सत्कार्यवादसिद्धान्तानुसारेण कार्यकारणयोस्तादात्म्यमङ्गीकृतं भवति—तेन च कार्यस्य प्राधान्ये कारणस्यापि प्राधान्यम्, कारणस्य च प्राधान्ये कार्यस्यापि प्राधान्यं स्वत एव सिद्धं भवतीति तत्र वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यं स्थितमेव।

एवं द्वौ प्रकारौ प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्ष्यते सारूप्यलक्षणः—तत्रापि द्वौ प्रकारौ कदाचिद् अप्रस्तुताद् वाच्याच्चमत्कारः व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षीत्यतो.

वाच्यस्यैव चमत्कारः नतु व्यङ्ग्यस्य कथंचनापीति। यदि पुनः अप्रस्तुतेन वाच्यरूपेण प्रस्तुतं व्यज्यमानं चमत्कारकारि तदा तस्य ध्वनावन्तर्भावः स तु ध्वनिरेव। इतरथा प्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यस्य चमत्कारकारित्वाभावे तु अलङ्कारान्तरम् अलङ्कारभेद एव ("अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये"—मेदिनी) अथवा अलङ्कारविशेष एव ('अन्तरशब्दो विशेषवाची"—इति लोचनकाराः)

वृत्तौ सङ्करालङ्कारादावित्यत्र यदादिग्रहणं कृतं तेन भाव-परिकर-व्याजस्तुत्यादयोऽपि सम्भाव्यमान—व्यङ्ग्यानुप्रवेशाद् गृह्यन्ते।

(अनु०)—अप्रस्तुत प्रशंसा में भी जब सामान्य-विशेष रूप से अथवा निमित्त-निमित्ति-रूप से वाच्यरूप अप्रस्तुत का व्यङ्ग्यरूप प्रस्तुत के साथ सम्बन्ध होता है, तब वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों का समान ही प्राधान्य रहता है। और जब वाच्यरूप अप्रस्तुत सामान्य का व्यङ्ग्यरूप प्रस्तुत विशेष के साथ सम्बन्ध होता है तब व्यङ्ग्य (विशेष) की प्रधान रूप से प्रतीति होने पर भी, उस (व्यङ्ग्यरूप विशेष) का सामान्य (वाच्यरूप) के साथ अविनाभावसम्बन्ध होने के कारण, सामान्य का भी प्राधान्य रहता है। और जब विशेष सामान्य-निष्ठ होता है (अर्थात् जब वाच्यरूप अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य व्यङ्ग्य होता है) तब भी सामान्य के प्राधान्य रहने पर, सामान्य में ही सभी विशेषों का अन्तर्भाव होने से, विशेष का भी प्राधान्य होता है। निमित्त-निमित्ति-भाव में भी यही नियम लागू होता है। किन्तु जब सादृश्य-मूलक अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत और प्रस्तुत का सम्बन्ध होता है तब भी वाच्यरूप अप्रस्तुत तुल्य का प्राधान्य अविवक्षित होने पर उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाएगा (तब वह ध्वनि कहलाएगा अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार नहीं) अन्यथा तो अलङ्कारविशेष (प्रस्तुतप्रशंसा) ही रहेगा।

(ध्व०)—तदयमत्र संक्षेपः—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाक्यालङ्कृतयः स्फुटाः॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रतिस्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः॥

(दी० शि०)—तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते तदयमिति—यत्र काव्ये वाच्यमात्रानुयायिनो वाच्यमेवोपकुर्वाणस्य व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्यम् तत्र समासोक्त्यादयः वाच्यालङ्कृतयः अर्थालङ्काराः स्फुटाः।

एवं च व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे आभासमात्रे यथा उपमादौ, वाच्यार्थानुगमे वाच्यार्थानुसरणे यथा समासोक्त्यादौ च सति, किं च यत्रापि तस्य व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं न प्रतीयते, तत्र सर्वत्र ध्वनिर्न भवतीत्यर्थः।

तर्हि क्व ध्वनिर्भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—यत्र काव्ये शब्दार्थौ व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ व्यङ्ग्यं प्राधान्येन प्रत्याययन्तौ स्थितौ स एव सङ्करेण अलङ्कारमिश्रणेन उज्झितो रहितः ध्वनेर्विषयो मन्तव्यः—तत्काव्यमेव ध्वनिकाव्यमिति मन्तव्यमित्यर्थः।

(अनु०)—तो यह सारांश हुआ—

जिस काव्य में व्यङ्ग्य का, वाच्योपकारक होने के कारण, प्राधान्य नहीं रहता, वहाँ समासोक्ति आदि वाच्यालङ्कार स्फुट होते हैं।

और इस प्रकार व्यङ्ग्य के आभासमात्ररूप में रहने पर—जैसे उपमा आदि में, तथा जहाँ भी उस व्यङ्ग्य की प्रधानता न प्रतीत होती हो, वहाँ सर्वत्र ध्वनि नहीं होती।

जिस काव्य में शब्द और अर्थ व्यङ्ग्य को प्रधान रूप से व्यक्त करते रहते हैं वही ध्वनि का विषय होता है, और वहाँ (पूर्वोक्ति समासोक्ति आदि) अलङ्कारों का मिश्रण नहीं रहता।

(ध्व०)—तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः। इतश्चनान्तर्भावः, यतः काव्य-विशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव।

(दी० शि०)—तस्मादुक्तहेतोः ध्वनेः ध्वनिकाव्यस्य अन्यत्र अलङ्कारादिषु नान्तर्भावः। हेत्वन्तरमपि दर्शयति—इतश्चेत्यादि—इतोऽपि हेतोर्नान्तर्भावः यतः ध्वनिरिति तु अङ्गी अलङ्कारादिविविधावयवविशिष्टं विशिष्टप्रकारकं काव्यमुच्यते। अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति ये प्रसिद्धास्ते पुनस्तस्य काव्यस्याङ्गभूता एवेति वक्ष्यन्ते। न च एकैकः अवयव एव पृथक् स्थितः सन्नवयवीति प्रसिद्धो भवति। अपृथग्भावे अवयविनो मध्ये स्थितस्य तु अवयवस्य केवलमवयविनोऽङ्गविशेषमात्रत्वं न तु तत्त्वं सम्पूर्णावयवित्वमेवे-त्यर्थः। यत्रापि वा कस्यचिद् अलङ्कारादेः तत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यात् तत्त्वं ध्वनित्वं स्यात् तत्रापि तावन्मात्र एव न ध्वनेर्निष्ठता स्थितिः यतोध्वनिर्महाविषयः तदतिरिक्ते स्थले तस्य भूयिष्ठं विद्यमानत्वात्।

(अनु०)—अतः उक्त हेतु के कारण ध्वनिकाव्य का अन्यत्र (अर्थात् अलङ्कारादिकों में) अन्तर्भाव नहीं हो सकता। और इस कारण भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता कि ध्वनि तो (अलङ्कारादि-विविध-) अवयव-विशिष्ट एक विशेष प्रकारका काव्य है। और अलङ्कार, गुण, वृत्ति आदि जो प्रसिद्ध हैं वे उस काव्य के अङ्गभूत हैं—यह आगे कहेंगे। प्रत्येक अङ्ग पृथक् स्थित होकर अङ्गीरूप से प्रसिद्ध नहीं हो सकता। और अवयवी के बीच रहकर तो अवयव केवल अवयव (अङ्ग) ही माना जाता है, सम्पूर्ण अङ्गी नहीं। और यदि किसी अलङ्कार में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता के कारण अवयवित्व (ध्वनित्व) सम्भव

भी हुआ तो उतने मात्र में ही समस्त ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो जाता, क्योंकि विशाल-क्षेत्रवाला (महाविषय) होने के कारण वह केवल उतने में ही स्थित नहीं हो सकता।

(ध्व०)—'सूरिभिः कथित' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

(दी० शि०)—विद्वद्भ्य उपज्ञा आद्यं ज्ञानं प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः, विदुषामुपज्ञेति तत्पुरुषाश्रये तु 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इति पाणिनिसूत्रेण विद्वदुपज्ञमिति नपुंसकत्वं स्यात्। ध्वनिरितीयमुक्तिर्न यथाकथंचिद् एवमेव निर्मूला प्रवृत्तेत्यर्थः। तानेवविदुष उल्लिखति—वैयाकरणा हि प्रथमे मुख्या विद्वांसः (यथोक्तं वाक्यपदीये भर्तृहरिणा—"रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले। ये व्याकरणसंस्कार-पवित्रितमुखा नराः ॥" इति) यतो व्याकरणं सर्वविद्यानां मूलभूतम् (तथा चोक्तं तत्रैव-"उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्। प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम् ॥" इति)। ते तत्रभवन्तः श्रूयमाणेषु वर्णेषु श्रवणेन्द्रियगोचरीक्रियमाणान् स्फोटकाभिव्यञ्जकान् वर्णानित्यर्थः ध्वनिरिति व्यवहरन्ति व्यपदिशन्ति। (तथाहि—"प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते" इति, "एवं तर्हि स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः" इति च महाभाष्यम्। यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते। स स्फोटश्शब्दजश्शब्दो ध्वनिरियुच्यते बुधैः ॥ इत्यादि वाक्यपदीयं चापि।) तथैव तेषां वैयाकरणानां मतं सिद्धान्तम् अनुसरन्तीत्येवंशीलैः स्फोटः शब्दो व्यङ्ग्यः ध्वनिस्तद् व्यञ्जक इति मतं स्वीकुर्वद्भिरित्यर्थः अन्यैः काव्यस्य तत्त्वभूतमर्थं (व्यङ्ग्यमितियावत्) पश्यन्ति जानन्तीत्येवंशीलैः काव्यमर्मज्ञैरित्यर्थः सूरिभिः बुधैः वाच्यश्च वाचकश्चेति वाच्यवाचकौ अर्थशब्दौ, तौ सम्मिश्रयतीति वाच्यवाचकसम्मिलितरूपः शब्दार्थ-सहित इति यावत् काव्यमितिनामभाक् शब्दात्मा शब्दस्वभावः शब्दस्वरूप इत्यर्थः व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्येन व्यञ्जकत्वाद् ध्वनिरित्युक्तः। यथाहि—वैयाकरणैः अर्थप्रतिपादकत्वात् प्रधानभूतस्य स्फोटस्य व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिरित्युक्तः तथैव काव्यमर्मज्ञैरपि प्राधान्येन व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकं शब्दरूपं काव्यमपि ध्वनिरित्युक्तमिति तात्पर्यम्।

(अनु०)—इस उक्ति की विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् प्रथम ज्ञान या आरम्भ हुआ है, न कि यह ऐसे ही (निर्मूल) चल पड़ी है यह बताते हैं। व्याकरणवेत्ता सर्वप्रधान विद्वान् होते हैं, क्योंकि व्याकरण सभी विद्याओं का मूलभूत है। तो, उन वैयाकरण मनीषियों ने श्रवणेन्द्रियगोचरीक्रियमाण स्फोटाभिव्यञ्जक वर्णों को 'ध्वनि' यह नाम दिया है। तन्मतानुसारी काव्यमर्मज्ञों ने वाच्यवाचकसम्मिलित शब्दस्वरूप काव्य इस नाम वाले को भी

(व्यङ्ग्य अर्थ का प्रधानता के साथ) व्यञ्जक होने के कारण ध्वनि नाम दिया है (अर्थात् जैसे वैयाकरणों ने अर्थप्रतिपादक होने के कारण प्रधानता-सम्पन्न स्फोटनामधारी शब्दस्वरूप की व्यञ्जकवर्ण-श्रुतियों को ध्वनि कहा था, वैसे ही काव्यमर्मज्ञों ने भी प्रधानतासम्पन्न व्यङ्ग्य अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द-स्वरूप काव्य को ध्वनि कहा)।

(ध्व० —न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

(दी० शि०)—एवंविधस्येदृशस्य वक्ष्यमाणा ये प्रभेदा अविवक्षितवाच्यादयः, येच तद्भेदा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादयश्च, तेषां सङ्कलनया गणनया महाविषयस्य महाविस्तारस्य महाव्यापकस्य वा ध्वनेर्यत् प्रकाशनं स्वरूपनिरूपणं तत् केवलं कस्यचिद् अप्रसिद्धस्य अलङ्कारविशेषस्य प्रतिपादनेन तुल्यमिति (यद् अभाववादिभिः आक्षिप्तमित्यर्थः) तेन तस्मिन् ध्वनिरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेषां ध्वनिवादिनामित्यर्थः युक्तः समीचीन एव संरम्भः कोपः। अतस्तान् (ध्वनिवादिनः) प्रति कथमपि ईर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वं दूषितमतित्वम् अभाववादिभिर्नाविष्करणीयं न प्रकाशनीयम् क्व महाविषयो ध्वनिः क्वच स्वल्पिष्ठः क्षोदिष्ठोऽणिष्ठोवा कश्चिदलङ्कारः—नहि मेरुसर्षपयोरैक्यं साम्यं वाऽबालिशेन स्वीक्रियते। एवमुक्तरीत्या ध्वनेरभाववादिनः प्रत्युक्ताः ध्वनिं प्रति तेषामाक्षेपाः सम्यक् प्रत्याख्याता इत्यर्थः॥

(अनु०)—इस प्रकार वक्ष्यमाण (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य आदि) प्रभेदों तथा तद्भेदों की संकलना से जो महाविस्तृत या महाव्यापक है, उस ध्वनि का स्वरूप-निरूपण किसी एक अप्रसिद्ध अलङ्कारविशेष के प्रतिपादन के तुल्य है, इस आक्षेप से, जिनका चित्त ध्वनि के स्वरूप के प्रति भावित प्रणिहित है, उन ध्वनिसमर्थकों को रोष होना समीचीन ही है। अतः उन (ध्वनिवादियों) के प्रति अपनी ईर्ष्याकलुषित बुद्धि का प्रकाशन न करना चाहिए (अर्थात् कहाँ महिष्ठ ध्वनि और कहाँ यह स्वल्पिष्ठ कोई अलङ्कार। कोई भी समझदार सुमेरु और सरसों के दाने की एकता नहीं मान सकता है)। तो इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों को उत्तर दे दिया।

(ध्व०)—अस्ति ध्वनिः। स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन। तत्राद्यस्योदाहरणम्

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क्वनु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं, दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥१३॥

(दी० शि०)—अभाववद प्रत्याख्यानस्यैष फलनिष्कर्षः अस्ति ध्वनिरिति ध्वनेरस्तित्वं साधु साधितम्, अभावश्च तस्य सम्यक् प्रत्याख्यात इत्यर्थः।

स च काव्यविशेषरूपोध्वनिः सामान्येन (न तु वक्ष्यमाणविशेषनिरूपणप्रकारेणेत्यर्थः) वक्ष्यमाणविशेपभेदानां मूलभूतेनेति यावत्, द्विविधः—अविवक्षितवाच्यो लक्षणामूलव्यञ्जनासहितः, विवक्षितान्यपरवाच्योऽभिधामूलव्यञ्जनासहितश्चेति। तत्र आद्यस्य लक्षणामूलस्य अविवक्षितवाच्यस्य उदाहरणम्—सुवर्णेत्यादि—

"यः शूरः, यः कृतविद्यः अधीतविद्यः यश्च सेवितुं जानाति सेवाकर्मणि कुशलः, ते त्रयः पुरुषाः सुवर्णं धनमित्यर्थः पुष्पं यस्यास्तां पृथिवीं चिन्वन्ति—चिञो द्विकर्मकत्वात् पृथिव्या अपि कर्मत्वम्—पृथिव्या धनं संगृह्णन्तीत्यर्थः।"

अत्र शूरत्वाधीतविद्यत्वसेवाभिज्ञत्वगुणत्रयान्यतमयुक्ताः पुरुषाः सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनं भवन्तीत्यर्थो लक्षणया प्रतिपाद्यते शूरकृतविद्यसेवकानां प्रकर्षश्चव्यञ्जनया गम्यते इति लक्षणामूलव्यञ्जनासहितो ध्वनिरयं वाच्यस्यात्राविवक्षितत्वात्।

द्वितीयस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्योदाहरणं च—शिखरिणीत्यादि—हे सुमुखि सुवदने, असावचिन्त्यभाग्यमहिमा शुकशावकः शुक इत्यर्थः जात्या तुच्छोऽपि ईदृशभाग्यानर्होऽपीति द्योतयितुं शावकशब्दः (यथानैषधे विनयं द्योतयितुं—"जीवितावधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात् (नै० ५।९७) इत्यादौ नरादित्यर्थे नरडिम्भादितिप्रयोगः) क्व कस्मिन् नु नाम शिखरिणि पर्वते कियच्चिरं कियत् कालं किमभिधानं किं नामकं तपः अकरोत्—येन हेतुना तव अधरवत् पाटलं पाटलवर्णं बिम्बस्य फलं दशति आस्वादयतीत्यर्थः। (नहि श्रीपर्वतादयः शिखरिणः, दिव्यकल्पसहस्रादिकालः, पञ्चाग्निप्रभृतीनि तपांसि चैवंविधोत्तमफलजनकानि भवन्ति।) तवेति भिन्नं पदम्, तेन तस्य प्राधान्यं, समासे तूपसर्जनीभूतं स्यात्।

अत्र अनुरागिणः प्रच्छन्नस्वाभिप्रायख्यापनवैदग्ध्यचाटुविरचनात्मकं व्यङ्ग्यम् इति अभिधामूलव्यञ्जनासहितोऽयं ध्वनिः वाच्यस्यात्रान्यपरत्वेन विवक्षितत्वात्।

(अनु०)—(अतः) ध्वनि है। और वह (काव्यविशेषरूप) ध्वनि सामान्यतया दो प्रकार का है—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य। उनमें प्रथम अर्थात् अविवक्षितवाच्य का उदाहरण—

"शूर, अधीतविद्य तथा सेवाभिज्ञ पुरुष सोना फूली हुई पृथ्वी (रूपी लता) को चुनते हैं।"—(अर्थात् पृथ्वी पर सोना बटोरते हैं)।

('यहाँ वे सुलभसमृद्धिसंभारभाजन होते हैं' यह अर्थ लक्षणा से तथा वे पुरुष प्रकृष्ट होते हैं यह अर्थ व्यञ्जना से निकलता है। अतः यह लक्षणामूलव्यञ्जनासहित ध्वनिकाव्य है।)

और द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य का भी उदाहरण—

"हे सुमुखि, इस तोते के बच्चे (तोते) ने किस पर्वत पर, कितनी देर तक,

कौन-सा तप किया था कि यह तुम्हारे अधर के समान गुलाबी इस बिम्बफल का आस्वादन कर रहा है।"

(यहाँ प्रेमी का प्रच्छन्नस्वाभिप्रायप्रकाशनपूर्वक कुशलता से चाटुवचनरूप व्यङ्ग्य हो रहा है—अतः यह अभिधामूल व्यञ्जनासहित ध्वनिकाव्य है।)

ध्व०—यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वंरूपभेदादयं ध्वनिः।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।

(दी० शि०)—साम्प्रतं ध्वनेर्भाक्तत्वं निराकर्तुमुपक्रमते— यदप्युक्तमित्यादि —यत् प्रथमकारिकायां 'भाक्तमाहुस्तमन्ये', तद्वृत्तौ च 'ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुरिति' उक्तं तत् प्रतिसमाधीयते निराक्रियते। अत्र प्रथमं तयोरेकत्वं खण्डयति— "अयं पूर्वोक्तलक्षणो ध्वनिर्भक्त्या लक्षणया एकत्वम् एकरूपतां न बिभर्ति न धारयति भिन्नरूपत्वात्।"

रूपभेदमेव दर्शयति—यत्रकाव्ये वाच्यवाचकौ वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य प्रयोजनत्वेन द्योतनं कुरुतः तत् प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यप्रधानं काव्यं ध्वनिर्भवति, भक्तिर्लक्षणा तु पुनः उपचारमात्रं भवति'—यदिदम् उपचरणमतिशयितः शब्दस्य मुख्यार्थादन्यस्मिन्नर्थे व्यवहारः प्रयोगः सा भक्तिः। (अत्र उपचारशब्दो लक्षणासामान्यवाचकः, न तु केवलसादृश्यमूलगौणलक्षणावाचकः।)

(अनु०)–अब ध्वनि की भाक्तता का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं—

"यह पूर्वोक्त-लक्षण ध्वनि भक्ति अर्थात् लक्षणा के साथ ऐक्य नहीं पाता, क्योंकि यह भिन्न रूपवाला है।"

जिस काव्य में वाच्य अर्थ एवं वाचक शब्द वाच्य से भिन्न अर्थ का प्रयोजन रूप से द्योतन करते हैं, वह (प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता वाला) काव्य ध्वनि कहलाता है। और भक्ति तो मुख्यार्थ से इतर अर्थ का प्रतिपादनमात्र है। (यहाँ उपचार शब्द लक्षणा सामान्य का वाचक है न कि केवल सादृश्यमूला लक्षणा का।)

(ध्व०)—मा चैतत्स्याद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्नचासौ लक्ष्यते तया।१४।

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्। यत्रहि व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

तथा—

चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुधिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि ।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
(चुम्ब्यते शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वः ।
विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥ इतिच्छाया)

तथा—कुविआओ पसन्नाओ ओरुण्णमुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ ।
(कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥ इतिच्छाया)

तथा—अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे ।
मिउओ वि दूसहो व्विअ जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
(भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥ इतिच्छाया)

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः । न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः ।

(दी० शि०)—भक्तिर्लक्षणा ध्वनेः पूर्वोक्तकाव्यविशेषस्य लक्षणमिति चैतदपि मा स्यात् । अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च दोषादसौ ध्वनिस्तया भक्त्या न लक्ष्यते । तत्र लक्षणस्यातिव्याप्तिरित्थं स्याद् यद् ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेर्लक्षणायाः सत्त्वं दृश्यते—तथाहि यत्र व्यङ्ग्यकृतं महदधिकं सौष्ठवं नास्ति प्रयोजनभूतस्य व्यङ्ग्यस्यागूढत्वेनानादरणीयत्वात्, तत्रापि उपचरिताऽऽरोपिता या शब्दवृत्तिर्लक्षणा तया प्रसिद्धेः परम्पराया अनुरोधेन प्रवर्तितोव्यवहारो येषां लक्षणयैव शब्दान् व्यवहरन्त इत्यर्थः व्यङ्ग्यसौष्ठवमनपेक्ष्यापि लाक्षणिकान् शब्दान् प्रयुञ्जाना इति यावत् कवयो दृश्यन्ते—यथा—परिम्लानमित्यादि—

"पीनस्य स्तनजघनस्य सङ्गात् सम्पर्कात् उभयतः स्थानद्वयेऽपिपरिम्लानमतिमृदितम् तथा तनोर्मध्यस्य क्षीणकटिप्रदेशस्य अन्तर्मध्ये परिमिलनं संसर्गमप्राप्य हरितं हरिद्वर्ण-

मेव स्थितम्, तथा च श्लथयोर्भुजलतयोराक्षेपेण इतस्ततो वलनानि लुण्ठनानि तैर्व्यस्तो विपर्यस्तोन्यासो रचना यस्य तद् इदं बिसिनीपत्रशयनं नलिनीदलतल्पं कृशाङ्ग्याः तन्वङ्ग्याः सन्तापं विरहज्वरजनितं तापं वदति स्फुटं सूचयति।"

अत्र वदतीति पदम् अचेतनस्य व्यक्तवागुच्चारणसामर्थ्यविरहाद् वाधितमुख्यार्थं सत् सूचकत्वं लक्षयति तत्प्रयोजनं च स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः। तत् स्फुटीकरणरूपं प्रयोजनं यदि स्वशब्देनोच्येत तत् किमचारुत्वं स्याद् व्यङ्ग्यतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम्। व्यङ्ग्यकृतेऽनन्यसाध्ये चारुत्वे एव हि ध्वनिर्भवति नान्यथा—यथा च वक्ष्यति स्वयं ध्वनिकार एव—

"उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥ इति॥

तथा—द्वितीयमुदाहरणम्—यथा चुम्बिज्जई इत्यादि—प्रियोजनः शतकृत्वः शतवारान् अगणितवारान् चुम्ब्यते स्वप्रियेणजनेनेतिशेषः, सहस्रकृत्वः सहस्रवारान् असंख्यवारान् (शतसहस्रादिशब्दा असंख्यतां द्योतयन्ति) अवरुद्धयते उपगूह्यते, विरम्य विश्रम्य पुनर्भूयोपि रम्यते। (प्रियोजनः) पुनरुक्तं न भवति पिष्टपेषणवदनुपादेयो न भवतीत्यर्थः।

अत्र 'पुनरुक्तम्' इति पदे अनुपादेयत्वं लक्ष्यते, किन्तु प्रयोजनं तत्र किमपि नाभ्यर्हितम्।

तथा-तृतीयम् उदाहरणं यथा—कुविआओ इत्यादि—स्वैरिण्यः पुंश्चल्यो महिलाः कामिन्यः कुपिताः प्रसन्नाः, अवरुदितमुख्यो रुदत्यो, विहसन्त्यो वा यथैव यद्रूपा एव गृहीता दृष्टा ज्ञाता इन्द्रियविषयीकृता वा तथा तद्रूपा एव हृदयं हरन्ति वशीकुर्वन्ति।

अत्रग्रहणेन इन्द्रियगोचरीकरणं लक्ष्यते, हरन्तीति हरणेन च वशीकरणम्। अनयोर्लक्षणयोर्न किमपि विशिष्टं प्रयोजनं व्यङ्ग्यम् इति यदि लक्ष्यार्थो वाच्यरूपेण स्ववाचकशब्देनाभिधीयेत तदापि न कापि अचारुता स्यात्।

तथा–चतुर्थमुदाहरणं यथा—अज्जाए इत्यादि—भार्यायाः प्रेयस्याः स्तनपृष्ठे कुचोपरि प्रियेण नवलतया मृदुकः कोमलोऽपि दत्तः कृतः प्रहारः आघातः सपत्नीनां हृदये दुस्सह इव जातः।

अत्र दत्त इति कृत इत्यर्थे लक्षणा न किञ्चिद् रमणीयं प्रयोजनम् अपेक्ष्य प्रवृत्ता अपितु प्रसिद्धयनुरोधादेव। तथैव च पञ्चममुदाहरणं यथा—परार्थ इत्यादि—यो भङ्गे छेदे पराभवेऽपि च मधुरः मधुरस्वादः मधुरस्वभावश्च परार्थं परप्रयोजने परोपकारे च पीडां यन्त्रमर्दनं क्लेशं चानुभवति प्राप्नोति सहते। यदीयोविकारो गुडादिरूपः मनोविकाररूपश्च इह सर्वेषां जनानाम् अभिमतः प्रियोभवति। स इक्षुः सत्पुरुषश्च अक्षेत्रपतितः कुत्सितभूमावुप्तः, कुस्थानेस्थितश्च यदि वृद्धिं पुष्टिमुन्नतिं च न सम्प्राप्तः तर्हि अयं

किमिक्षोः सत्पुरुषस्य च दोषः अगुणाया गुणरहिताया मरुभुवः मरुभूमेः कुस्थानस्य च पुनर्नदोषः—तदीय एवदोष इति काक्वा ज्ञाप्यते ।

अत्र पीडामनुभवति इत्यस्य इक्षुपक्षे मर्दंत इत्यर्थे लक्षणा-प्रयोजनं यत्किञ्चित् तदपि नादरास्पदम् ।

यद्यपि एवंविधेषु स्थलेषु प्रयोजनवत्या एव लक्षणायाः प्रयोगः किन्तु तत्र व्यङ्गच-भूतस्य प्रयोजनस्योपेक्षणीयत्वेनाचारुत्वान्नध्वनित्वम् । कदाचिदपि एवंविधं लक्षणास्थलं ध्वनेर्विषयो न भवति ।

(अनु०)—और यह भी नहीं हो सकता कि भक्ति ध्वनि का लक्षण हो—अब यह बताते हैं—"अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष के कारण यह ध्वनि उस भक्ति के द्वारा लक्षित नहीं की जा सकती—उसमें भी लक्षण की अतिव्याप्ति इस प्रकार सम्भव है कि ध्वनि से व्यतिरिक्त विषय में भी भक्ति (लक्षणा) की सत्ता दिखाई पड़ती है—जैसे कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थकृत अधिक सौष्ठव नहीं होता वहाँ भी प्रसिद्धिवश लक्षणावृत्ति से ही शब्दव्यवहार करते कविजन देखे जाते हैं—

जैसे—

"दोनों ओर पीनस्तन एवं जघन के सम्पर्क से अधिक मुर्झाया हुआ, मध्यभाग में सम्पर्क न प्राप्त करने के कारण हरित, शिथिल भुजलताओं के फैलाने एवं लुढ़कने से अस्त-व्यस्त कमलिनी के पत्तों की यह सेज (बिस्तर) कृशाङ्गी (विरह-व्यथिता सुन्दरी) का सन्ताप बता रही है ।"

(यहाँ 'वदति' यह पद अचेतन के व्यक्तवाणी बोलने के असामर्थ्य के कारण बाधितमुख्यार्थ होकर स्फुटित करती है या सूचित करती है यह अर्थ लक्षित करता है, जिसका 'स्फुटीकरण ज्ञान' रूप व्यङ्ग्य कोई विशिष्ट रमणीय प्रयोजन नहीं । उस अर्थ को वाचक शब्द द्वारा कहने पर भी कोई अन्तर न आएगा । अतः यह 'वदति' ध्वनि नहीं कहलाएगा ।)

"प्रियजन सौ बार चूमा जाता है, हजार बार आलिङ्गित किया जाता है और रुककर पुनः रमण किया जाता है, फिर भी वह (प्रियजन) पुनरुक्त नहीं होता ।"

(यहाँ 'पुनरुक्त' पद में लक्षणा है—क्योंकि प्रियजन कोई वचनरूप तो है नहीं—अतः लक्ष्यार्थ होगा 'अनुपादेय'; जिसका कोई अभ्यर्हित प्रयोजन नहीं ।)

उसी प्रकार—

"कुपित, प्रसन्न, रुआँसी, विहँसती चाहे जिस भी रूप में पकड़ी गई मनचली औरतें मन हर लेती हैं ।"

(यहाँ 'गृहीताः' से 'उपयोग की गई' तथा 'हरन्ति' से 'वश में कर लेती हैं' अर्थ लक्षित होते हैं । किन्तु लक्षणाओं का कोई विशिष्ट प्रयोजन व्यङ्ग्य नहीं है । यदि

ये ही लक्ष्यार्थ शब्दान्तरों द्वारा वाच्यरूप में कहे जायें तो कोइ अचारुता न होगी)।

उसी प्रकार—

"प्रिय ने भार्या के स्तन पर नवलता से प्रहार किया, जो कोमल होते हुए भी सौतों के हृदय में दुस्सह हो गया।"

(यहाँ 'दत्तः' का 'सफल किया गया' यह लक्षणा से लक्षित होता है। यहाँ कोई रमणीय प्रयोजन व्यङ्ग्य नहीं है।)

और उसी प्रकार—

"जो दूसरों के लिए पीडा का अनुभव करता है, टूट जाने पर भी मधुर बना रहता है, जिसका विकार भी सभी को अच्छा लगता है, वह ईख यदि ऊसर भूमि में पड़कर न बढ़ा तो क्या यह गन्ने का दोष है गुणहीन मरुभूमि का नहीं ?"

(यहाँ गन्ना पक्ष में यद्यपि 'पीडामनुभवति' का पेरा जाता है, यह अर्थ लक्षित होता है, किन्तु इसका व्यङ्ग्य कोई अभ्यर्हित नहीं—अतः यह ध्वनि नहीं है।)

(यद्यपि ऐसे स्थलों में प्रयोजनवती ही लक्षणा का प्रयोग हुआ है, किन्तु वहाँ व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के उपेक्षणीय होने के कारण उस (प्रयोजन में चारुता नहीं है। अतः वहाँ ध्वनित्व नहीं है।) ऐसी लक्षणा के स्थल कभी ध्वनि के विषय नहीं होते।

(ध्व०)—यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥१५॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः।

(दी० शि०)—तत्रहेतुमाह—यतो हि अन्या उक्तिः वचनम् उक्त्यन्तरं शब्दान्तरं तेन प्रकाशयितुम् अशक्यं यच्चारुत्वं चमत्कारः, तत् प्रकाशयन् शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् व्यञ्जकः सन् ध्वनिरित्युक्तेर्व्यपदेशस्य विषयीभवेद् ध्वनिशब्दभाग् भवति ध्वनिरित्युच्यत इत्यर्थः। व्यञ्जकेन प्रतिपादिते ह्यर्थे यादृक् चमत्कारः वाचकेन लाक्षणिकेन वा प्रतिपादिते तस्मिन्नेवार्थे न तादृक् चमत्कार इत्यर्थः।

अत्र चोदाहृते विषये पूर्वोक्तेषूदाहरणेष्वित्यर्थः। शब्दः ते ते लाक्षणिकाः शब्दाः न तथाविधं चारुत्वं व्यञ्जन्ति यथा उक्त्यन्तरैः शब्दान्तरैः प्रतिपादयितुयशक्यं स्यात्।१५।

(अनु०)—क्योंकि—

शब्दान्तर द्वारा जो रमणीयता प्रकाशित न की जा सके उसे प्रकाशित करता हुआ व्यञ्जक शब्द ध्वनि-पद-वाच्य होता है।

और इन पूर्वोक्त उदाहरणों में प्रयुक्त शब्द (वे लाक्षणिक शब्द) ऐसी रमणीयता को प्रकाशित करने के निमित्त नहीं बनते जो शब्दान्तर द्वारा न की जा सके।१५।

(ध्व०)--किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥१६॥

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये क्वचित् सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविधशब्दमुखेन ।

(दी० शि०)—एवं प्रयोजनवतीष्वपि लक्षणासु यदि व्यङ्ग्यं प्रयोजनं नादरास्पदं भवति तदा नास्ति ध्वनिः किं पुनः निरूढासु लक्षणासु यत्र हि व्यङ्ग्यार्थरूपस्य प्रयोजनस्य सत्तैव नास्तीत्याह—किञ्चेत्यादि—

लावण्याद्याः आद्यग्रहणात् अनुलोमप्रतिलोमकुशलप्रभृतीनामसंख्यानां ग्रहणम्, ये शब्दाः स्वविषयात् स्वमुख्यार्थाद् अन्यत्र अर्थे रूढाः प्रतिपादकत्वेन स्थिताः, रूढत्वादेव प्रयोजनसान्निध्यापेक्षणशून्याः, ते काव्येषु प्रयुक्ता अपि ध्वनेः पदं न भवन्ति, न तेषु ध्वनि व्यवहारः । न च तत्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वनिव्यवहारः ।

तेषु लावण्यादिषु निरुढलाक्षणिकेषु शब्देषु च उपचरिता आरोपिता शब्दवृत्तिः लक्षणावृत्तिः अस्ति एव । यदि क्वचित् तथाविधेषु निरूढलाक्षणिकशब्देषु प्रयुक्तेष्वपि ध्वनिव्यवहारः सम्भवति तदा स व्यवहारः प्रकारान्तरेण तत्र क्वचित् विभावानुभावादि-रूपव्यञ्जकत्वस्य सम्भवादित्यर्थः न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगाद् ।१६।

(अनु०)—जो 'लावण्य' आदि शब्द अपने और भी, (लवण रस से युक्तत्वरूप) विषय (मुख्य अर्थ) से अन्यत्र (हृद्यत्वादि रूप) अर्थ में रूढ़ हैं, वे भी (काव्य में) प्रयुक्त होने पर ध्वनि के विषय नहीं बनते ।"

और उन (निरूढलाक्षणिक शब्दों) में आरोपित शब्द-वृत्ति लक्षणा तो है ही । यदि कहीं उस प्रकार के निरूढलाक्षणिक शब्दों के प्रयुक्त होने पर ध्वनि व्यवहार किया भी जाता है तो वह व्यवहार प्रकारान्तर से होता है—(अर्थात् उसमें कहीं प्रयुक्त व्यञ्जक शब्द के कारण) न कि उस प्रकार के उपचरित (लाक्षणिक लावण्यादि) शब्दों के कारण ।

(ध्व०)—अपिच

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥१७॥

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्द-स्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् । न चैवम् ।

(दी० शि०)—शब्दप्रयोग-प्रयोजनभूतश्च व्यङ्ग्योर्थो न लक्षणया प्रतिपाद्यत इति ध्वनिलक्षणयोर्वैभिन्न्ये हेत्वन्तरं निर्दिशति-अपिचेत्यादि—

यद् (व्यङ्ग्यार्थरूपं) फलं शब्दप्रयोगप्रयोजनभूतमर्थम् उद्दिश्य बोधयितुमभिप्रेत्य• मुख्यां वृत्तिम् अभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणया, अर्थस्य अमुख्यस्य दर्शनं बोधः, तत्र प्रयोजने बोधनीये स शब्दः स्खलद्गतिर्बोधनासमर्थो नैव भवतीतिशेषः।

तत्र तच्छब्दप्रयोगस्य प्रयोजनं हि चारुत्वातिशयविशिष्टस्यार्थस्य प्रकाशनम्। तस्मिन् क्रियमाणेऽपि यदि तस्यशब्दस्यामुख्यता गौणता बाधितमुख्यार्थता स्यात् तदा तादृशस्य शब्दस्य प्रयोग एव दुष्टता सदोषता स्यात्। न च तस्य प्रयोगे दुष्टता काचित्, यतः तस्मिन् शब्द उच्चारितमात्रे प्रयोजनरूपः सोऽर्थः खलु झटिति निर्बाधं प्रतीयते।१७।

अनु०—और भी—

जिस (व्यङ्ग्यार्थरूप) फल अर्थात् शब्द-प्रयोग-प्रयोजनभूत-अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए अभिधा का परित्याग करके शब्द से लक्षणा द्वारा अमुख्य अर्थ का बोध किया जाता है, उस फलरूप अर्थ को बताने में वह शब्द स्खलद्गति अथवा असमर्थ नहीं होता।

वहाँ उस शब्द के प्रयोग का प्रयोजन है चारुत्वातिशयविशिष्ट अर्थ का प्रकाशन। अब उसमें भी यदि वह गौण या बाधितमुख्यार्थ हो जाय तब तो उस प्रकार के शब्द का प्रयोग ही सदोष माना जायगा। किन्तु ऐसा नहीं है (अर्थात् उसके प्रयोग में कोई दोष नहीं, क्योंकि उस शब्द का उच्चारण होते ही प्रयोजन रूप वह अर्थ तुरत निर्बाध प्रतीत हो जाता है।)।१७।

ध्व०—तस्मात्—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥१८॥

तस्मादन्योध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः।

दी० शि०—उपसंहरति तस्मादित्यादि—

यतो गुणवृत्तिर्लक्षणा वाचकत्वाश्रयणैव अभिधाव्यापारमाश्रित्यैव अभिधाव्यापारानन्तर-मेव अभिधापुच्छभूतत्वाद् व्यवस्थिता, ततो हेतोः व्यञ्जकत्वं व्यञ्जनाव्यापार एव एकं केवलं मूलं यस्य तादृशस्य ध्वनेः व्यञ्जनाव्यापारमाश्रित्यैव व्यवस्थितस्य ध्वनिनामकाव्य-प्रकारविशेषस्य कथं लक्षणं स्यात्? क्व व्यञ्जनाश्रितं काव्यं ध्वनिर्नाम क्व चामुख्यार्थप्रति-पादिका आरोपितव्यापारमात्रम् अभिधापुच्छभूता वराकी लक्षणा? तस्माद् भिन्न-स्वरूपत्वाद् ध्वनिर्भिन्नो गुणवृत्तिश्च भिन्नेत्यर्थः।

(अनु०)—अतः—

लक्षणाव्यापार, जो वाचकत्व अर्थात् अभिधा व्यापार का आश्रय करके व्यवस्थित होता है, व्यञ्जकत्वैकमूल अर्थात् केवल व्यञ्जना का आश्रय लेने वाले ध्वनि (नामक काव्य-विशेष) का लक्षण कैसे हो सकता है? इसलिए ध्वनि दूसरी (वस्तु) है और गुणवृत्ति (लक्षणा) दूसरी।

(ध्व०)—अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य। नहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये च बहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद् भक्तिरलक्षणम्।

(दी० शि०)—अस्य गुणवृत्तिरूपस्य ध्वनिलक्षणस्य अव्याप्तिरपि दोषोऽस्ति—नहि यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र सर्वत्र गुणवृत्तिरपीति—(अविवक्षितवाच्येध्वनौ तु यद्यपि गुणवृत्तिरस्ति, तत्र लक्षणामूलाया एव व्यञ्जनावृत्तेः सत्त्वात् किन्तु) विवक्षितान्यपरवाच्ये अभिधामूलव्यञ्जनासहिते ध्वनौ तद्भेदप्रभेदेषु च कथंकारं गुणवृत्तेः प्रवेशः—नहि ते ध्वनिप्रभेदा भक्त्या कथमपि व्याप्यन्ते स्पृश्यन्ते। तस्मादिति सामान्य उपसंहारः-अव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषादित्यर्थः न भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणमिति।

(अनु०)—इस (गुणवृत्तिरूप ध्वनि के) लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। विवक्षितान्यपरवाच्य—अर्थात् अभिधामूल व्यञ्जना व्यापार सहित—ध्वनि तथा उसके अन्य सभी प्रकार भक्ति (लक्षणा) से व्याप्त (स्पृष्ट) नहीं होते। अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है।

(ध्व०)—कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

(दी० शि०)—इत्थं भक्तेर्ध्वनितादात्म्यलक्षणत्वे निरस्य इदानीं तदुपलक्षणत्वमेव कथमपि स्वीकरोति—सा गुणवृत्तिः कस्यचिद् अविवक्षितवाच्यस्येत्यर्थः (न तु सर्वस्य) ध्वनिभेदस्य उपलक्षणं काक इव देवदत्तगृहस्य कादाचित्कबोधकारणं स्यात् सम्भाव्येतेत्यर्थः। एतदेव वृत्तौ विवृणोति-सा पुनरित्यादिना—वक्ष्यमाणध्वनिप्रभेदेषु अन्यतमस्य अविवक्षितवाच्यनाम्नो भेदस्य केवलम् उपलक्षणतया कादाचित्कतया न तु नित्यलक्षणरूपेण सम्भाव्येत। तथापि यदि (दुराग्रहवशात्) गुणवृत्तिः विवक्षितान्यपरवाच्यादिभेदोपभेदबृंहितस्य समग्रस्यापि ध्वनेर्लक्षणं स्यादिति मन्येत, तदा सर्वेषु वाच्यालङ्कारेषु अभिधाव्यापारस्यैव प्राधान्यात् अभिधायाश्च लक्षणे वैयाकरणमीमांसकैर्निरूपिते तदुपलक्षितः समस्त एव वाच्यालङ्कारसमुदायो लक्षणनिरूपित इति मन्यताम्, वाच्यालङ्काराणां प्रत्येकं लक्षणकरणं व्यर्थं पिष्टपेषणमिति स्वीक्रियताम्।

(अनु०)—'वह गुणवृत्ति ध्वनि के केवल किसी (अविवक्षितवाच्यनामक) भेद का उपलक्षण (कादाचित्कबोधकारण) मात्र हो सकती है।'

वक्ष्यमाणध्वनिप्रभेदों में अन्यतम (अर्थात् अविवक्षितवाच्य नामक) भेद का उपलक्षणमात्र वह गुणवृत्ति हो सकती है (न कि नित्यलक्षण)। इतने पर भी यदि (दुराग्रहवश) कहें कि गुणवृत्ति (लक्षणा) से ही ध्वनि का लक्षण होता है तो (सभी वाच्यालङ्कारों में अभिधाव्यापार की प्रधानता के कारण वैयाकरणों एवं मीमांसकों के द्वारा उस

अभिधा के लक्षण के निरूपित कर देने पर उस) अभिधा से (उपलक्षित) समग्र वाच्यालङ्कारसमुदाय का लक्षण निरूपित कर दिया गया समझा जाना चाहिए—,और अलङ्कारों में प्रत्येक का लक्षण करना व्यर्थ हो जाता है।

(ध्व०)—किं च—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥१९॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः; यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः।

(दी० शि०)—किं च यदि भक्तिर्ध्वनेरुपलक्षणभूता स्वीकृताऽपि स्यात् तथापि को दोषः? नास्माभिरपूर्वोन्मीलनं कृतं पूर्वोन्मीलितमेव सम्यङ् निरूपितमित्यभिप्रायेणाह—किंचेत्यादि—अन्यैर्ध्वनिवादीतरैर्भक्तिवादिभिरित्यर्थः अस्य ध्वनेर्लक्षणे पूर्वं कृते नः अस्माकं ध्वनिवादिनां पक्षस्य साध्यस्यैव ध्वनिसत्त्वस्यैवेत्यर्थः संसिद्धिः सम्यङ् निष्पत्तिः स्यादितिशेषः।

यदि चान्यैः प्रागेव ध्वनेर्लक्षणं निरूपितं तदाप्यस्माकमिष्टस्य संसिद्धिरेव, यतो ध्वनेः सत्त्वमेवास्माकं साध्यमिष्टं तच्च यदि पूर्वमेव साधितं तदा स्वप्रयत्नं विनैव वयं ध्वनि-वादिनः सम्पन्नेष्टार्थाः संजाताः।

(अनु०)—और यदि,

'अन्य लोगों ने इस ध्वनि का लक्षण पहले ही कर दिया है तो हम ध्वनिवादियों के पक्ष (ध्वनिसत्तारूपसाध्य) की ही सिद्धि हो जाती है।'

अन्यों द्वारा पहले ही ध्वनिलक्षण निरूपित होने पर तो हमारे पक्ष (साध्य) की ही सिद्धि होती है, क्योंकि ध्वनि की सत्ता ही हमारा सिषाधयिषित है। यदि वह पहिले ही सिद्ध कर दिया गया तो हम बिना स्वप्रयत्न के सिद्धार्थ हो गए।

(ध्व०)—येऽपि सहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेववस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरति-शयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधा-यिन एव।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
प्रथम उद्योतः॥

(दी० शि०)—ये चापि लक्षणकरणाप्रगल्भमतयो ध्वनेरात्मानं तत्त्वं स्वभावं वैशिष्ट्यमिति यावत् केवलं सहृदयहृदयेनैव संवेद्यं लक्षणनिरूपणादिप्रकारैराख्यातुमनर्हम् अनिर्वचनीयमित्यर्थः आम्नासिषुः परम्परया अवोचन्, तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः विचार्य-वादिनः यत उक्तया "यत्रार्थः शब्दोवेत्यादिरूपया नीत्या ध्वनेः सामान्यलक्षणं, वक्ष्यमाणया

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमित्यादिरूपया द्वितीयोद्योते प्रतिपादयिष्यमाणया नीत्या च विशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यदि ध्वनेरनाख्येयत्वमनिर्वचनीयत्वमेव स्यात् तदा सर्वेषामेव प्रत्यक्षादि-प्रमाणसिद्धानां लौकिकानां शास्त्रीयाणां च वस्तूनां तदनाख्येयत्वं प्रसक्तमापन्नं स्यात् ।

यदि पुनस्तैरनया अनाख्येयतारूपयाऽतिशयोक्त्या ध्वनेः स्वरूपम् अन्यानि काव्यानि संस्कृतप्राकृतादिभाषानिबद्धानि गुणीभूतव्यङ्ग्यचित्रादिरूपाणीति काव्यान्तराणि तानि अतिशेत इत्येवंशीलम् आख्यायते तत् तेऽनाख्येयतावादिनोऽपि युक्ताभिधायिनः यथार्थ-वादिन एव ॥१९॥

इतिश्रीमदाचार्यचण्डिकाप्रसादविरचितायां दीपशिखायां ध्वनिविवृतौ प्रथम उद्योतः ॥

(अनु०)--और जिन (लक्षणनिरूपण करने में अप्रगल्भ बुद्धिवालों) ने ध्वनि की आत्मा (स्वभाव या वैशिष्ट्य) को केवल सहृदयहृदयसंवेद्य (लक्षणनिरूपणादिप्रकार से व्याख्या के लिए अनर्ह) परम्परा से कहा है, वे भी विचारपूर्वक कहनेवाले नहीं थे । क्योंकि उक्त नीति से सामान्य लक्षण तथा वक्ष्यमाण नीति से विशेष लक्षण के निरूपित कर देने पर भी यदि ध्वनि की अनिर्वचनीयता ही रह जाती है तो सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध लौकिक एवं शास्त्रीय पदार्थों को भी वह (अनिर्वचनीयता) प्राप्त होती है । किन्तु यदि वे इस अनिर्वचनीयरूप अतिशयोक्ति द्वारा ध्वनि के स्वरूप को अन्य प्रकार के काव्यों से बढ़कर बताते हैं तो वे भी उचित ही कहते हैं ।१९।

इतिश्रीमदाचार्यचण्डिकाप्रसादविरचितेऽनुस्वानाख्ये हिन्दी-भाषानुवादे--

प्रथम उद्योतः ॥



परिशिष्ट १

ध्वनिकार आनन्दवर्धन

"ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥"

—राजशेखर

संस्कृत साहित्यशास्त्र में युगप्रवर्तक ग्रन्थ ध्वन्यालोक काव्यालोक तथा सहृदयालोक नाम से भी आचार्यों द्वारा उल्लिखित हुआ है। साहित्यशास्त्र में इस ग्रन्थ का वही स्थान है जो व्याकरण-शास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का तथा वेदान्त-दर्शन में बादरायण के ब्रह्मसूत्रों का। इस महान् ग्रन्थ में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उन्हीं का समर्थन, व्याख्यान एवं अनुसरण अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि धुरीण साहित्यमनीषियों ने किया। इस ग्रन्थरत्न ने पूर्वप्रचलित गुण-रीति-अलङ्कार आदि काव्याङ्गों का समुचित मूल्याङ्कन कर काव्य में उनके स्थान की व्यवस्था दी तथा काव्य के वास्तविक सौन्दर्य को परखने की चिर सत्य दृष्टि दी। पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में—"ध्वनिकृतामलङ्कारसरणिव्यवस्थापकत्वात्।"

ध्वन्यालोक में कुल चार उद्योत हैं तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ में कारिका, वृत्ति एवं उदाहरण तीन भाग हैं। कुछ सङ्ग्रह, परिकर या संक्षेप श्लोक भी हैं जो वृत्ति के ही अन्तर्गत माने जाएँगे, क्यों कि वृत्ति में कही गई बातें ही कभी-कभी अन्त में पद्यबद्ध कर दी जाती हैं, जिससे मूल कारिका और विशद रूप से व्याख्यात हो जाती है—"परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः।"—लोचन। यहाँ जिज्ञासा होती है, कि इन तीनों भागों का रचयिता एक ही व्यक्ति है, अथवा कारिका का कोई एक और वृत्ति तथा उदाहरण का कोई दूसरा? अर्वाचीन पुराविदों में म० म० डा० कुप्पूस्वामी शास्त्री, डा० ए० शङ्करन्, डा० शतकरी मुकर्जी, डा० के० सी० पाण्डेय तथा डा० के० कृष्णमूर्ति आदि विद्वानों ने कारिकाकार एवं वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति माना है, किन्तु डा० बुह्लर, प्रो० जैकेबी, डा० कीथ, म० म० डा० पी० वी० काणे, डा० एस० के० दे, प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य आदि धुरीणों ने दोनों को दो पृथक् व्यक्ति सिद्ध किया है। प्राचीन आचार्यों में ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनवगुप्त ने, जो आनन्दवर्धन से करीब १५० वर्ष पश्चात् हुए, अपनी 'लोचन' नामक टीका में कारिकाकार एवं वृत्तिकार को पृथक्-पृथक् व्यक्ति बताया है। वे कारिका के रचयिता को कारिकाकार, कारिकाकृत्, अथवा मूलग्रन्थकृत् आदि कहते हैं, वृत्ति के रचयिता को वृत्तिकार, वृत्तिकृत्,

शास्त्रकार अथवा ग्रन्थकार आदि रूप से उल्लिखित करते हैं। यद्यपि अभिनव ने नाट्यशास्त्र की अपनी टीका 'भारती' में (तथा कहीं-कहीं लोचन में भी) कुछ ऐसे वाक्य कहे हैं, जिससे वे कारिका, वृत्ति दोनों के रचयिता को एक ही व्यक्ति मानते भी समझ पड़ते हैं, किन्तु उनकी लोचन की उक्तियाँ उनके इसी मत को निस्सन्दिग्ध रूप में प्रकट करती हैं कि वे दोनों को पृथक् व्यक्ति ही मानते हैं। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने जिन्होंने ध्वनिकार के ही वचनों का विवेचन किया है, कारिका और वृत्ति के कर्त्ता को एक ही व्यक्ति माना है। वैसे परवर्ती आचार्य प्रतीहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि ने इस प्रश्न के प्रति अपनी कोई जागरूकता नहीं दिखाई है। वे केवल ध्वनिकार शब्द का प्रयोग करते हैं, जो कारिका तथा वृत्ति के रचयिता के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार यह एक विवादास्पद विषय बन गया। किन्तु बहुत से विषय ध्वन्यालोक में ऐसे कहे गए हैं, जो केवल वृत्ति में हैं, कारिका में कहीं नहीं। उदाहरणार्थ— प्रथम उद्योत में ध्वनि के अभाववादियों का उल्लेख उत्तर कारिका में कहीं नहीं है। केवल (१३ वीं कारिका की) वृत्ति में है। फिर भक्तिवादियों को तो कारिका द्वारा उत्तर दिया गया है किन्तु अलक्षणीयतावाद को वृत्ति के ही मत्थे छोड़ दिया गया। और ऐसा तभी संगत माना जायगा जब दोनों का कर्त्ता एक ही हो। इसी तरह 'सहृदयमनःप्रीतये' की वृत्ति में 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' द्वारा अपने नाम 'आनन्द' का श्लेष द्वारा सङ्केत कर दिया है, जो दोनों का रचयिता ही कर सकता है। और अन्त में ध्वनितत्त्व की व्याकृति का श्रेय जिस प्रकार अपने प्रथित अभिधान का उल्लेख करते हुए आनन्दवर्धन लेते हैं उससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वे दोनों के एक ही कर्त्ता हैं, नहीं हो इतनी विश्वस्तता के साथ आत्मोल्लेख न करते—

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

कुछ संस्करणों में तो वृत्ति में एक ऐसा भी श्लोक अन्त में मिलता है, जिसमें वृत्तिकार ने इस समस्त काव्य-विवेचन को स्वोपज्ञ ही बताया है:—

इति काव्यार्थविवेकोऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः।

अतः कारिका एवं वृत्ति के रचयिता को एक ही मानना अधिक उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है। अस्तु।

कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी में आनन्दवर्धन को काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा का समकालिक कहा है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ (रा० त० ५।३४)

अवन्ति वर्मा का समय ८५५ से ८८३ ई० तक के बीच माना जाता है। आनन्दवर्धन ने उद्भट का उल्लेख किया है। अतः वे उद्भट के अर्थात् ८०० ई० के बाद ही हुए होंगे। और राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। अतः वे राजशेखर के अर्थात् ९०० ई० के पूर्व हुए होंगे। इस प्रकार आनन्दवर्धन का जीवनकाल करीब ८१० से ८८० ई० के बीच पड़ता है।

आनन्दवर्धन के, पिता का नाम नोण या नोणोपाध्याय था जैसा कि 'इण्डिया आफिस लाइब्रेरी' में सुरक्षित ध्वन्यालोक की पाण्डुलिपि के तृतीय उद्योत के अन्त में उल्लिखित है। अपने 'देवीशतक' में आनन्दवर्धन ने भी अपने को 'नोणसुत' कहा है :—

देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया।
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम् ॥

ध्वन्यालोक के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने अनेक और ग्रन्थ रचे। 'अर्जुनचरित', 'विषमबाणलीला' तथा 'देवीशतक' उनके काव्य थे। 'धर्मोत्तमाविवृति', धर्मकीर्ति के ग्रन्थ 'प्रमाणविनिश्चय' पर टीका थी। 'तत्त्वालोक' वेदान्तदर्शनविषयक ग्रन्थ था। 'देवीशतक' में आनन्दवर्धन की चित्र-काव्य-रचना-योग्यता का सुन्दर नमूना मिलता है। कविरूप में वे सब प्रकार की रचना करने की क्षमता रखते थे।

अपने ध्वन्यालोक के द्वारा आनन्दवर्धन ने काव्यरचना का सर्वस्व व्यङ्ग्य अर्थ तथा उसके व्यञ्जक शब्द एवं अर्थ का महत्त्व बताया। सहृदय जगत् का ध्वनिकाव्य से परिचय करवाया। ध्वनि के विरोधियों को उत्तर दिया। काव्य में व्यञ्जना वृत्ति की अनिवार्यता प्रमाणित की। गुण, रीति, अलङ्कार आदि का काव्य में उचित स्थान एवं मूल्य निर्धारित किया। रसावेश की व्यवस्था करते हुए इसके विरोधाविरोध का परिहार बताया। कवि-प्रतिभा के साथ ध्वनिरूप काव्य-रचना का अविनाभाव सम्बन्ध प्रमाणित किया। काव्यजगत् में नवीनता की सृष्टि ध्वनिमयी रचनाओं के द्वारा ही सम्भव बतायी। काव्यसमालोचना का नितान्त नूतन किन्तु सर्वथा सत्य मानदण्ड स्थिर किया।

आनन्दवर्धन उच्चकोटि के सहृदय, लब्धपरमार्थ दार्शनिक तथा ब्रह्मलीनधिषणावाले परम भक्त आचार्य थे। उनके इस एक श्लोक से उनके व्यक्तित्व की कुछ झांकी मिल सकती है :—

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥

ध्वन्यालोक पर 'चन्द्रिका' तथा 'लोचन' दो प्राचीन टीकाएँ लिखी गईं। 'चन्द्रिका' के न तो रचयिता का कोई पता है, न वह टीका ही मिलती है। वह बहुत दिनों से विलुप्त हो गई है। केवल अभिनव तथा महिमभट्ट आदि आचार्यों के उल्लेख मात्र से

उसका कुछ परिचय मिलता है। अभिनव ने उसके रचयिता को अपना 'पूर्ववंश्य' तथा 'निजपूर्वजसगोत्रज' कहा है। भट्टनायक ने भी 'हृदयदर्पण' नामक एक टीका सी लिखी थी, जिसमें ध्वनिसिद्धान्तों का विरोध ही प्रतिपादित था। वह सम्भवतः महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' भी भाँति थी। अभिनवगुप्त की टीका 'लोचन' विद्वानों में सदा अति प्रसिद्ध रही है। वह सम्पूर्ण ध्वन्यालोक पर मिलती है। परवर्ती आचार्यों ने ध्वनिमार्ग को अभिनव के 'लोचन' से ही देखा। अतः प्रायः सभी आचार्यों के ऊपर 'लोचन' की छाप दिखाई पड़ती है। महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' नामक प्रबन्ध द्वारा ध्वनिकार के ध्वनिलक्षण, ध्वनिभेदों एवं ध्वनि के उदाहरण को अनुमान में अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने संकल्प किया है कि अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपरवाच्यादि सभी प्रकार की ध्वनियों का (सर्वस्यैव ध्वनेः) वे अनुमान में अन्तर्भाव दिखायेंगे। किन्तु उनका विरोध सहृदयसमाज को मान्य न हुआ। काव्यार्थ-विवेचन में अनुमान की प्रतिष्ठा सम्भव न हो सकी। आधुनिक टीका आचार्य बदरीनाथ शर्मा की 'दीधिति' नाम से प्रचलित है। यह भी अत्यन्त प्रचलित टीका है। इधर हिन्दी तथा अंग्रेजी में भी ध्वन्यालोक के अनेक अनुवाद एवं टिप्पणियाँ निकली हैं। किन्तु प्रायः सर्वत्र 'लोचन' की ही प्रभुता छाई है। कोई मुक्त नहीं दिखाई पड़ता। यह दीपाशिखा उन सबसे पृथक् स्वतन्त्र है। इसमें ध्वन्यालोक की बात कही गई है, 'लोचन' की नहीं।



परिशिष्ट २

ध्वनिविरोधी

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के केवल तीन विरोधियों का उल्लेख किया है। वे हैं—१. अभाववादी या अलङ्कारवादी, २. भक्तिवादी तथा ३. अलक्षणीयतावादी। इन तीनों का ही विषय काव्यमीमांसा था। इन्हीं का उल्लेख ध्वनिकार ने प्रथम कारिका में किया है, और इन्हीं को मुंह तोड़ उत्तर तेरहवीं कारिका की वृत्ति से प्रारम्भ कर उद्योत के अन्त तक दिया है। मीमांसक, नैयायिक, वैयाकरण, सौगत आदि तो व्यञ्जना वृत्ति के विरोधी हैं—क्योंकि वृत्तियों का विवेचन करना उनका विषय (क्षेत्र) है। उनसे काव्यविवेचन से क्या प्रयोजन ? अतएव उनका उल्लेख ध्वनिकार ने तृतीय उद्योत में व्यञ्जना-वृत्ति-विवेचन के प्रसङ्ग में किया है। वे लोग ध्वनिविरोधी नहीं व्यञ्जनाविरोधी हैं। और इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के विरोधी भी वे ही व्यञ्जना-विरोधी लोग होंगे। उन्हें ध्वनिविरोधी केवल परोक्ष रूप से, व्यञ्जनाविरोधी होने के नाते ही, कह सकते हैं—किन्तु आनन्दवर्धन ने उन्हें इस प्रकार ध्वनिविरोधी रूप से उल्लिखित नहीं किया है।

परिशिष्ट ३

ध्वनि और कविप्रतिभा

ध्वनिरूप व्यञ्जक काव्यविशेष की रचना का कवि की प्रतिभाशक्ति के साथ सहज अविनाभाव सम्बन्ध है। यदि कवि में नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाशक्ति है तो वह निश्चय ही ध्वनिकाव्य की ही रचना करेगा। व्यङ्ग्य अर्थरूपी हृद्य चमत्कार प्रकट करती हुई प्रतिभावान् कवि की भारती उसकी अलोक-सामान्य प्रतिभा को प्रमाणित करती है। ऐसा ही कवि महाकवि कहलाता है। अतएव ध्वनिशास्त्रनिर्माण के बहुत पूर्व से ही वाल्मीकि, व्यास, कालिदास प्रभृति प्रतिभाधनिक महाकवियों की प्रतिभा यह चमत्कार दिखाती चली आ रही है। उन्होंने ध्वनिशास्त्र कहाँ पढ़ा था? तभी तो आनन्दवर्धन कह उठते हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ (ध्वनि १.६)

ध्वनिकाव्य प्रतिभावान् कविप्रजापति की नैसर्गिकी वाङ्मयी सृष्टि है।



परिशिष्ट ४

श्लोकः श्लोकत्वमागतः

आनन्दवर्धन ने आदिकवि वाल्मीकि के शोक को, जो अपनी मारी गई सहचरी के विरह से कातर एक क्रौञ्चपक्षी के आक्रन्दन से उत्पन्न हुआ, श्लोक के रूप में परिणत हो जाना कहा है—"तथा चादिकवेर्वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।" किन्तु वाल्मीकि-रामायण में तो नरक्रौञ्च मारा गया कहा गया है। और वहाँ मादा रोती कही गई है—

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले।
दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता करुणं खे परिभ्रमा॥

तो इस प्रकार ध्वनिकार के कथन की सङ्गति कैसे लगे? इसका समाधान विद्वानों ने इस प्रकार दिया है। वाल्मीकि-रामायण के—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥"

इस आदि श्लोक का एक व्यङ्ग्य अर्थ भी है, जो रावण के प्रति घटित होता है। जिसमें, "हे रावण, क्रौञ्चमिथुन अर्थात् राम-सीता के जोड़े में से स्नेहमोहित एक सीतारूप का जो तुमने वध किया अर्थात् महाकष्ट दिया अतः तुम्हें अनन्त वर्षों तक प्रतिष्ठा, सम्मान अथवा लङ्कापुरी में स्थिति न मिले।" यह अर्थ व्यङ्ग्य निकलता है। आनन्दवर्धन ने, इसी व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति अधिक आस्थावान् होने के कारण, उसके अनुसार 'निहतसहचरी' आदि लिखा है, अन्यथा ये भी निहतसहचर ही लिखते।

प्रमुख संस्कृत प्रकाशन

भुशुण्डि रामायण (पूर्व खण्ड)	डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह	१०.[illegible]
उत्तररामचरितम्	डॉ० रामअवध पाण्डेय	
संस्कृत भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	३०.[illegible]
प्रारम्भिक रचनानुवादकौमुदी	,, ,,	३.[illegible]
रचनानुवाद कौमुदी	,, ,,	७.५[illegible]
प्रौढ़-रचनानुवादकौमुदी	,, ,,	२५.[illegible]
संस्कृत व्याकरण	,, ,,	३०.००
अलङ्कारप्रस्थानविमर्शः	डॉ० लक्ष्मीनारायण सिंह	१०.००
मुद्राराक्षसम् (विशाखदत्त)	डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी	२५.००
वेदचयनम्	विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी	१२.००
कादम्बरी : कथामुखम्	डॉ० देवर्षि सनाढ्य तथा विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी	८.००
कादम्बरी महाश्वेतावृत्तान्त	,, ,,	६.८०
पालि-प्राकृत-अपभ्रंश संग्रह	डॉ० रामअवध पाण्डेय तथा डॉ० रविनाथ मिश्र	२०.००
ऋग्वेदभाष्य भूमिका	डॉ० हरिदत्त शास्त्री	६.००
अभिनव का रस विवेचन	नगीनदास पारिख तथा डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त	२५.००
अभिनव रस सिद्धान्त	डॉ० दशरथ द्विवेदी	७.५०
दशरूपकम्	डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी	२०.००
अभिज्ञान शाकुन्तलम्	डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी	२०.००
संस्कृत शिक्षकम्	डॉ० गोपालशास्त्री 'दर्शनकेसरी	४.००
गोमहिमाभिनयनाटकम्	,, ,,	४.००
वक्रोक्तिजीवितम्	डॉ० दशरथ द्विवेदी	१५.००
शृंगारमञ्जरी सट्टकम्	पं० बाबूलाल शुक्ल	१०.००

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी

6·10